

भूमंडलीकृत विश्व का बनना



1067CH03

1 आधुनिक युग से पहले

जब हम 'वैश्वीकरण' की बात करते हैं तो आमतौर पर हम एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की बात करते हैं जो मोटे तौर पर पिछले लगभग पचास सालों में ही हमारे सामने आई है। लेकिन जैसा कि आप इस अध्याय में देखेंगे, भूमंडलीकृत विश्व के बनने की प्रक्रिया – व्यापार का, काम की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते लोगों का, पूँजी व बहुत सारी चीजों की वैश्विक आवाजाही का – एक लंबा इतिहास रहा है। आज जब हम अपने जीवन में वैश्विक आपसी संपर्कों के बारे में सोचते हैं तो हमें उन युगों के बारे में भी जानना चाहिए जिनसे गुजरते हुए हमारी यह दुनिया ऐसी बनी है।

इतिहास के हर दौर में मानव समाज एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक आते गए हैं। प्राचीन काल से ही यात्री, व्यापारी, पुजारी और तीर्थयात्री ज्ञान, अवसरों और आध्यात्मिक शांति के लिए या उत्पीड़न/यातनापूर्ण जीवन से बचने के लिए दूर-दूर की यात्राओं पर जाते रहे हैं। अपनी यात्राओं में ये लोग तरह-तरह की चीजें, पैसा, मूल्य-मान्यताएँ, हुनर, विचार, आविष्कार और यहाँ तक कि कीटाणु और बीमारियाँ भी साथ लेकर चलते रहे हैं। 3,000 ईसा पूर्व में समुद्री तटों पर होने वाले व्यापार के माध्यम से सिंधु घाटी की सभ्यता उस इलाके से भी जुड़ी हुई थी जिसे आज हम पश्चिमी एशिया के नाम से जानते हैं। हजार साल से भी ज़्यादा समय से मालदीव के समुद्र में पाई जाने वाली कौड़ियाँ (जिन्हें पैसे या मुद्रा के रूप में इस्तेमाल किया जाता था) चीन और पूर्वी अफ्रीका तक पहुँचती रही हैं। बीमारी फैलाने वाले कीटाणुओं का दूर-दूर तक पहुँचने का इतिहास भी सातवीं सदी तक ढूँढ़ा जा सकता है। तेरहवीं सदी के बाद तो इनके प्रसार को निश्चय ही साफ़ देखा जा सकता है।



चित्र 1 - एक स्मृतिशिला पर पानी के एक जहाज़ का चित्र, गोवा संग्रहालय, दसवीं शताब्दी। पश्चिमी तट के क्षेत्र में पाई गई नवीं सदी के बाद की स्मृतिशिलाओं पर जलपोतों की तसवीरों से उस काल में समुद्री व्यापार के महत्त्व का पता चलता है।

1.1 रेशम मार्ग (सिल्क रूट) से जुड़ती दुनिया

आधुनिक काल से पहले के युग में दुनिया के दूर-दूर स्थित भागों के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक संपर्कों का सबसे जीवंत उदाहरण सिल्क मार्गों के रूप में दिखाई देता है। 'सिल्क मार्ग' नाम से पता चलता है कि इस मार्ग से पश्चिम को भेजे जाने वाले चीनी रेशम (सिल्क) का कितना महत्व था। इतिहासकारों ने बहुत सारे सिल्क मार्गों के बारे में बताया है। ज़मीन या समुद्र से होकर गुज़रने वाले ये रास्ते न केवल एशिया के विशाल क्षेत्रों को एक-दूसरे से जोड़ने का काम करते थे बल्कि एशिया को यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका से भी जोड़ते थे। ऐसे मार्ग ईसा पूर्व के समय में ही सामने आ चुके थे और लगभग पंद्रहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में थे। इसी रास्ते से चीनी पॉटरी जाती थी और इसी रास्ते से भारत व दक्षिण-पूर्व एशिया के कपड़े व मसाले दुनिया के दूसरे भागों में पहुँचते थे। वापसी में सोने-चाँदी जैसी कीमती धातुएँ यूरोप से एशिया पहुँचती थीं।

व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान, दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती थीं। शुरुआती काल के ईसाई मिशनरी निश्चय ही इसी मार्ग से एशिया में आते होंगे। कुछ सदी बाद मुस्लिम धर्मोपदेशक भी इसी रास्ते से दुनिया में फैले। इससे भी बहुत पहले पूर्वी भारत में उपजा बौद्ध धर्म सिल्क मार्ग की विविध शाखाओं से ही कई दिशाओं में फैल चुका था।



चित्र 2 - चीन की एक गुफा पेंटिंग में दर्शाया गया सिल्क मार्ग, आठवीं सदी, गुफा 217, मोगाओ ग्राटोज़, गन्सू, चीन।

1.2 भोजन की यात्रा : स्पैघेत्ती और आलू

हमारे खाद्य पदार्थ दूर देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कई उदाहरण पेश करते हैं। जब भी व्यापारी और मुसाफिर किसी नए देश में जाते थे, जाने-अनजाने वहाँ नयी फ़सलों के बीज बो आते थे। संभव है कि दुनिया के विभिन्न भागों में मिलने वाले 'झटपट तैयार होने वाले' (Ready) खाद्य पदार्थों के भी साझा स्रोत रहे हों। आइए स्पैघेत्ती (Spaghetti) और नूडल्स का ही उदाहरण लें। माना जाता है कि नूडल्स चीन से पश्चिम में पहुँचे और वहाँ उन्हीं से स्पैघेत्ती का जन्म हुआ, या संभव है कि पास्ता अरब यात्रियों के साथ पाँचवीं सदी में सिसली पहुँचा जो अब इटली का ही एक टापू है। इसी तरह के आहार भारत और जापान में भी पाए जाते हैं इसलिए हो सकता कि हम कभी यह न जान सकें कि उनका जन्म कैसे हुआ होगा। फिर भी, इन अनुमानों के आधार पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि आधुनिक काल से पहले भी दूर देशों के बीच सांस्कृतिक लेन-देन चल रहा होगा।

आलू, सोया, मूँगफली, मक्का, टमाटर, मिर्च, शकरकंद और ऐसे ही बहुत सारे दूसरे खाद्य पदार्थ लगभग पाँच सौ साल पहले हमारे पूर्वजों के पास नहीं थे। ये खाद्य पदार्थ यूरोप और एशिया में तब पहुँचे जब क्रिस्टोफर कोलंबस



चित्र 3 - वेनिस एवं पूर्वी विश्व से आए व्यापारी चीजों की अदला-बदली करते हुए, मार्को पोलो, बुक ऑफ़ मार्वल्स, पंद्रहवीं सदी।

गलती से उन अज्ञात महाद्वीपों में पहुँच गया था जिन्हें बाद में अमेरिका के नाम से जाना जाने लगा। (यहाँ 'अमेरिका' का मतलब उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका और कैरीबियन द्वीपसमूह, सभी से है।) दरअसल, हमारे बहुत सारे खाद्य पदार्थ अमेरिका के मूल निवासियों यानी अमेरिकन इंडियनों से हमारे पास आए हैं।

कई बार नयी फ़सलों के आने से जीवन में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ आ जाता था। साधारण से आलू का इस्तेमाल शुरू करने पर यूरोप के ग़रीबों की ज़िंदगी आमूल रूप से बदल गई थी। उनका भोजन बेहतर हो गया और उनकी औसत उम्र बढ़ने लगी। आयरलैंड के गरीब काशतकार तो आलू पर इस हद तक निर्भर हो चुके थे कि जब 1840 के दशक के मध्य में किसी बीमारी के कारण आलू की फ़सल खराब हो गई तो लाखों लोग भुखमरी के कारण मौत के मुँह में चले गए।

1.3 विजय, बीमारी और व्यापार

सोलहवीं सदी में जब यूरोपीय जहाज़ियों ने एशिया तक का समुद्री रास्ता ढूँढ़ लिया और वे पश्चिमी सागर को पार करते हुए अमेरिका तक जा पहुँचे तो पूर्व-आधुनिक विश्व बहुत छोटा सा दिखाई देने लगा। इससे पहले कई सदियों से हिंद महासागर के पानी में फलता-फूलता व्यापार, तरह-तरह के सामान, लोग, ज्ञान और परंपराएँ एक जगह से दूसरी जगह आ-जा रही थीं। भारतीय उपमहाद्वीप इन प्रवाहों के रास्ते में एक अहम बिंदु था। पूरे नेटवर्क में इस इलाक़े का भारी महत्व था। यूरोपीयों के दाखिले से यह आवाजाही और बढ़ने लगी और इन प्रवाहों की दिशा यूरोप की तरफ़ भी मुड़ने लगी।

अपनी 'खोज' से पहले लाखों साल से अमेरिका का दुनिया से कोई संपर्क नहीं था। लेकिन सोलहवीं सदी से उसकी विशाल भूमि और बेहिसाब फ़सलें व खनिज पदार्थ हर दिशा में जीवन का रूप-रंग बदलने लगे।

आज के पेरू और मैक्सिको में मौजूद खानों से निकलने वाली क़ीमती धातुओं, खासतौर से चाँदी, ने भी यूरोप की संपदा को बढ़ाया और पश्चिम एशिया के साथ होने वाले उसके व्यापार को गति प्रदान की। सत्रहवीं सदी के आते-आते पूरे यूरोप में दक्षिणी अमेरिका की धन-संपदा के बारे में तरह-तरह के क़िस्से बनने लगे थे। इन्हीं किंवदंतियों की बदौलत वहाँ के लोग एल डोराडो को सोने का शहर मानने लगे और उसकी खोज में बहुत सारे खोजी अभियान शुरू किए गए।

सोलहवीं सदी के मध्य तक आते-आते पुर्तगाली और स्पेनिश सेनाओं की विजय का सिलसिला शुरू हो चुका था। उन्होंने अमेरिका को उपनिवेश बनाना शुरू कर दिया था। यूरोपीय सेनाएँ केवल अपनी सैनिक ताकत के दम पर नहीं जीतती थीं। स्पेनिश विजेताओं के सबसे शक्तिशाली हथियारों में परंपरागत क़िस्म का सैनिक हथियार तो कोई था ही नहीं। यह हथियार तो चेचक जैसे कीटाणु थे जो स्पेनिश सैनिकों और अफ़सरों के साथ वहाँ जा पहुँचे थे। लाखों साल से दुनिया से अलग-थलग रहने के कारण अमेरिका के लोगों के शरीर में यूरोप से आने वाली इन बीमारियों से बचने की रोग-प्रतिरोधी क्षमता नहीं थी।



चित्र 4 - आयरलैंड में आलू अकाल, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1849

फ़सल कट जाने के बाद बचे-खुचे आलूओं की उम्मीद में खेत की मिट्टी खोदते बच्चे। 1845 से 1849 के बीच पड़े भयानक आयरिश आलू अकाल के दौरान आयरलैंड के लगभग 10,00,000 लोग भुखमरी के कारण मारे गए थे और इससे दोगुने लोग काम की तलाश में घर-बार छोड़ कर दूसरे इलाक़ों में चले गए थे।

बॉक्स 1

'जैविक' युद्ध?

न्यू इंग्लैंड स्थित मैसाचुसेट्स बे कॉलोनी के पहले गवर्नर जॉन विनथॉप ने मई 1634 में लिखा था कि छोटी चेचक उपनिवेशकारों के लिए ईश्वर का वरदान है : '... देशी जनता ... छोटी चेचक के कारण लगभग पूरी खत्म हो चुकी थी। इस तरह परमेश्वर ने हमारी मिल्कीयत पर हमें मालिकाना दे दिया।'

अल्फ़्रेड क्रॉस्बी, इकोलॉजिकल इंपीरियलिज़्म

फलस्वरूप, इस नए स्थान पर चेचक बहुत मारक साबित हुई। एक बार संक्रमण शुरू होने के बाद तो यह बीमारी पूरे महाद्वीप में फैल गई। जहाँ यूरोपीय लोग नहीं पहुँचे थे वहाँ के लोग भी इसकी चपेट में आने लगे। इसने पूरे के पूरे समुदायों को खत्म कर डाला। इस तरह घुसपैठियों की जीत का रास्ता आसान होता चला गया।

बंदूकों को तो खरीद कर या छीन कर हमलावरों के खिलाफ भी इस्तेमाल किया जा सकता था। पर चेचक जैसी बीमारियों के मामले में तो ऐसा नहीं किया जा सकता था क्योंकि हमलावरों के पास उससे बचाव का तरीका भी था और उनके शरीर में रोग प्रतिरोधी क्षमता भी विकसित हो चुकी थी।

उन्नीसवीं सदी तक यूरोप में गरीबी और भूख का ही साम्राज्य था। शहरों में बेहिसाब भीड़ थी और बीमारियों का बोलबाला था। धार्मिक टकराव आम थे। धार्मिक असंतुष्टों को कड़ा दंड दिया जाता था। इस वजह से हजारों लोग यूरोप से भागकर अमेरिका जाने लगे। अठारहवीं सदी तक अमेरिका में अफ्रीका से पकड़ कर लाए गए गुलामों को काम में झोंक कर यूरोपीय बाजारों के लिए कपास और चीनी का उत्पादन किया जाने लगा था।

अठारहवीं शताब्दी का काफ़ी समय बीत जाने के बाद भी चीन और भारत को दुनिया के सबसे धनी देशों में गिना जाता था। एशियाई व्यापार में भी उन्हीं का दबदबा था। लेकिन विशेषज्ञों का मानना है कि पंद्रहवीं सदी से चीन ने दूसरे देशों के साथ अपने संबंध कम करना शुरू कर दिए और वह दुनिया से अलग-थलग पड़ने लगा। चीन की घटती भूमिका और अमेरिका के बढ़ते महत्व के चलते विश्व व्यापार का केंद्र पश्चिम की ओर खिसकने लगा। अब यूरोप ही विश्व व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र बन गया।

नए शब्द

असंतुष्ट : जो स्थापित विश्वासों और तरीकों को नहीं मानता।

चर्चा करें

जब हम कहते हैं कि सोलहवीं सदी में दुनिया 'सिकुड़ने' लगी थी तो इसका क्या मतलब है।



चित्र 5 - गुलामों की खरीद-फरोख्त, न्यू ऑर्लिअंस, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1851

एक खरीदार नीलामी के लिए क्रतार में खड़े गुलामों को गौर से देख रहा है। इस चित्र में चार औरतों और लंबी टोपियाँ पहने सात पुरुषों के साथ दो बच्चे भी बिकने के लिए खड़े हैं। अच्छी क्रीमत पाने के लिए गुलामों को अक्सर बढ़िया कपड़े पहना कर बाजार में लाया जाता था।

2 उन्नीसवीं शताब्दी (1815-1914)

उन्नीसवीं सदी में दुनिया तेज़ी से बदलने लगी। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी कारकों ने पूरे के पूरे समाजों की कायापलट कर दी और विदेश संबंधों को नए ढर्रे में ढाल दिया।

अर्थशास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विनिमय में तीन तरह की गतियों या 'प्रवाहों' का उल्लेख किया है। इनमें पहला प्रवाह व्यापार का होता है जो उन्नीसवीं सदी में मुख्य रूप से वस्तुओं (जैसे कपड़ा या गेहूँ आदि) के व्यापार तक ही सीमित था। दूसरा, श्रम का प्रवाह होता है। इसमें लोग काम या रोज़गार की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं। तीसरा प्रवाह पूँजी का होता है जिसे अल्प या दीर्घ अवधि के लिए दूर-दराज़ के इलाकों में निवेश कर दिया जाता है।

ये तीनों तरह के प्रवाह एक-दूसरे से जुड़े हुए थे और लोगों के जीवन को प्रभावित करते थे। कभी-कभी इन कारकों के बीच मौजूद संबंध टूट भी जाते थे। उदाहरण के लिए, वस्तुओं या पूँजी की आवाजाही के मुकाबले श्रमिकों की आवाजाही पर प्रायः ज़्यादा शर्तें और बंदिशें लगाई जाती थीं। फिर भी, यदि हम इन तीनों प्रवाहों का एक साथ अध्ययन करें तो उन्नीसवीं सदी की विश्व अर्थव्यवस्था को ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं।

2.1 विश्व अर्थव्यवस्था का उदय

इस विषय को समझने के लिए सबसे पहले औद्योगिक यूरोप में खाद्य उत्पादन और उपभोग के बदलते रुझानों पर विचार करें तो बेहतर होगा। सामान्य रूप से सभी देश भोजन के मामले में आत्मनिर्भर होने का प्रयास करते रहे हैं। लेकिन उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन की बात अलग थी। अगर उस समय ब्रिटेन खाद्य आत्मनिर्भरता के रास्ते पर चलता तो वहाँ के लोगों का जीवनस्तर गिर जाता और सामाजिक तनाव फैलता। आइए देखें कि इस आशंका के पीछे क्या कारण थे?

अठारहवीं सदी के आखिरी दशकों में ब्रिटेन की आबादी तेज़ी से बढ़ने लगी थी। नतीजा, देश में भोजन की माँग भी बढ़ी। जैसे-जैसे शहर फैले और उद्योग बढ़ने लगे, कृषि उत्पादों की माँग भी बढ़ने लगी। कृषि उत्पाद मँहगे होने लगे। दूसरी तरफ़ बड़े भूस्वामियों के दबाव में सरकार ने मक्का के आयात पर भी पाबंदी लगा दी थी। जिन क़ानूनों के सहारे सरकार ने यह पाबंदी लागू की थी उन्हें 'कॉर्न लॉ' कहा जाता था। खाद्य पदार्थों की ऊँची कीमतों से परेशान उद्योगपतियों और शहरी बाशिंदों ने सरकार को मजबूर कर दिया कि वह कॉर्न लॉ को फ़ौरन समाप्त कर दे।

कॉर्न लॉ के निरस्त हो जाने के बाद बहुत कम कीमत पर खाद्य पदार्थों का आयात किया जाने लगा। आयातित खाद्य पदार्थों की लागत ब्रिटेन में पैदा होने वाले खाद्य पदार्थों से भी कम थी। फलस्वरूप, ब्रिटिश किसानों की हालत बिगड़ने लगी क्योंकि वे आयातित माल की कीमत का मुकाबला नहीं कर सकते थे। विशाल भूभागों पर खेती बंद हो गई। हज़ारों लोग बेरोज़गार हो गए। गाँवों से उजड़ कर वे या तो शहरों में या दूसरे देशों में जाने लगे।

जब खाद्य पदार्थों की कीमतों में गिरावट आई तो ब्रिटेन में उपभोग का स्तर बढ़ गया। उन्नीसवीं सदी के मध्य से ब्रिटेन की औद्योगिक प्रगति काफ़ी तेज़ रही जिससे लोगों की आय में वृद्धि हुई। इससे लोगों की ज़रूरतें बढ़ीं। खाद्य पदार्थों का और भी ज़्यादा मात्रा में आयात होने लगा। पूर्वी यूरोप, रूस, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया, दुनिया के हर हिस्से में ब्रिटेन का पेट भरने के लिए ज़मीनों को साफ़ करके खेती की जाने लगी।

खेती के लिए ज़मीन को साफ़ कर देना ही काफ़ी नहीं था। खेतिहर इलाकों को बंदरगाहों से जोड़ने के लिए रेलवे की भी ज़रूरत थी। ज़्यादा तादाद में माल ढुलाई के लिए नयी गोदियाँ बनाना और पुरानी गोदियों को फैलाना ज़रूरी था। नयी जमीनों पर खेती करने के लिए यह आवश्यक था कि दूसरे इलाकों के लोग वहाँ आकर बसें। यानी नए घर बनाना और नयी बस्तियाँ बसाना भी ज़रूरी था। इन सारे कामों के लिए पूँजी और श्रम की ज़रूरत थी। इसके लिए लंदन जैसे वित्तीय केंद्रों से पूँजी आने लगी। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया जैसे जिन स्थानों पर मजदूरों की कमी थी वहाँ लोगों को ले जाकर बसाया जाने लगा यानी श्रम का प्रवाह होने लगा।

उन्नीसवीं सदी में यूरोप के लगभग पाँच करोड़ लोग अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में जाकर बस गए। माना जाता है कि पूरी दुनिया में लगभग पंद्रह करोड़ लोग बेहतर भविष्य की चाह में अपने घर-बार छोड़कर दूर-दूर के देशों में जाकर काम करने लगे थे।



चित्र 6 - अमेरिका को रवाना होते आप्रवासियों से लदे जहाज़ का चित्र, एम.डब्ल्यू. रिडले, 1869



चित्र 7 - जहाज़ पर चढ़ने का इंतज़ार करते आयरिश आप्रवासियों का चित्र, माइकेल फिट्ज़जेराल्ड, 1874

1890 तक एक वैश्विक कृषि अर्थव्यवस्था सामने आ चुकी थी। इस घटनाक्रम के साथ ही श्रम विस्थापन रुझानों, पूँजी प्रवाह, पारिस्थितिकी और तकनीक में गहरे बदलाव आ चुके थे। अब भोजन किसी आसपास के गांव या क़स्बे से नहीं बल्कि हज़ारों मील दूर से आने लगा था। अब अपने खेतों पर खुद काम करने वाले किसान ही खाद्य पदार्थ पैदा नहीं कर रहे थे। अब यह काम ऐसे औद्योगिक मज़दूर करने लगे थे जो संभवतः हाल ही में वहाँ आए थे और ऐसे खेतों में काम कर रहे थे जहाँ महज़ एक पीढ़ी पहले संभवतः ठेठ जंगल रहे होंगे। खाद्य पदार्थों को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के लिए रेलवे का इस्तेमाल किया जाता था। रेल का नेटवर्क इसी काम के लिए बिछाया गया था। पानी के जहाज़ों से इसे दूसरे देशों में पहुँचाया जाता था। इन जहाज़ों पर दक्षिण यूरोप, एशिया, अफ़्रीका और कैरीबियाई द्वीपसमूह के मज़दूरों से बहुत कम वेतन पर काम करवाया जाता था।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप आयरलैंड से अमेरिका में आए एक खेत मज़दूर हैं। इस बारे में एक पैराग्राफ़ लिखिए कि आपने यहाँ आने का फ़ैसला क्यों किया और अब आप अपनी रोज़ी-रोटी कमाने के लिए क्या करते हैं।

बहुत छोटे पैमाने पर ही सही लेकिन इसी तरह के नाटकीय बदलाव हम अपने यहाँ पंजाब में भी देख सकते हैं। यहाँ ब्रिटिश भारतीय सरकार ने अर्द्ध-रेगिस्तानी परती ज़मीनों को उपजाऊ बनाने के लिए नहरों का जाल बिछा दिया ताकि निर्यात के लिए गेहूँ और कपास की खेती की जा सके। नयी नहरों की सिंचाई वाले इलाक़ों में पंजाब के अन्य स्थानों के लोगों को लाकर बसाया गया। उनकी बस्तियों को केनाल कॉलोनी (नहर बस्ती) कहा जाता था।

भोजन तो सिर्फ़ एक उदाहरण मात्र है। कुछ ऐसी ही कहानी कपास की भी रही है जिसकी दुनिया भर में बड़े पैमाने पर खेती की जाने लगी थी ताकि ब्रिटिश कपड़ा मिलों की माँग को पूरा किया जा सके। रबड़ की कहानी भी इससे अलग नहीं है। विभिन्न चीज़ों के उत्पादन में विभिन्न इलाक़ों ने इतनी महारत हासिल कर ली थी कि 1820 से 1914 के बीच विश्व व्यापार में 25 से 40 गुना वृद्धि हो चुकी थी। इस व्यापार में लगभग 60 प्रतिशत हिस्सा 'प्राथमिक उत्पादों' यानी गेहूँ और कपास जैसे कृषि उत्पादों तथा कोयले जैसे खनिज पदार्थों का था।

2.2 तकनीक की भूमिका

इस घटनाक्रम में तकनीक की क्या भूमिका रही? रेलवे, भाप के जहाज़, टेलिग्राफ़, ये सब तकनीकी बदलाव बहुत महत्वपूर्ण रहे। उनके बिना उन्नीसवीं सदी में आए परिवर्तनों की कल्पना नहीं की जा सकती थी। तकनीकी प्रगति अकसर चौतरफ़ा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों का परिणाम भी होती है। उदाहरण के लिए, औपनिवेशीकरण के कारण यातायात और परिवहन साधनों में भारी सुधार किए गए। तेज़ चलने वाली रेलगाड़ियाँ बनीं, बोगियों का भार कम किया गया, जलपोतों का आकार बढ़ा जिससे किसी भी उत्पाद को खेतों से दूर-दूर के बाज़ारों में कम लागत पर और ज़्यादा आसानी से पहुँचाया जा सके।

गतिविधि

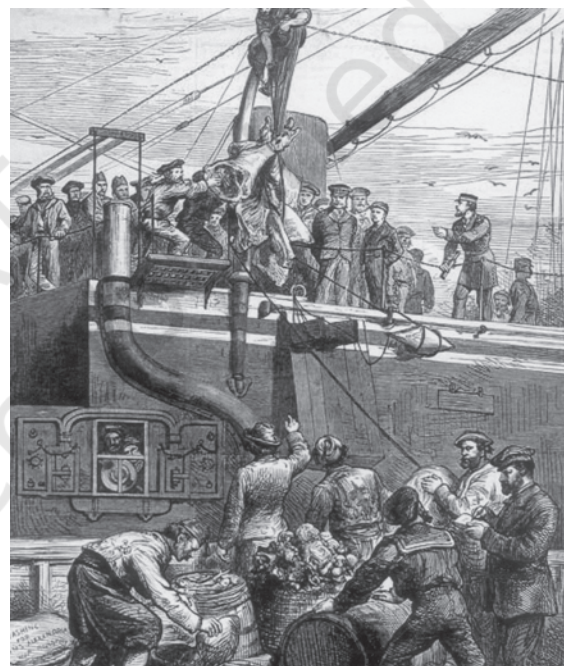
फ़्लो चार्ट के माध्यम से दर्शाइए कि जब ब्रिटेन ने खाद्य पदार्थों के आयात का निर्णय लिया तो उसके कारण अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया की ओर पलायन करने वालों की संख्या क्यों बढ़ने लगी?



चित्र 8 - द स्मिथफील्ड क्लब पशु बाज़ार, 1851, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़।
मेलों में किसान अपने पालतू जानवर लाते थे जिनकी वहाँ खरीद-फ़रोख़्त की जाती थी। स्मिथफील्ड में लंदन का सबसे पुराना पशु बाज़ार था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में स्मिथफील्ड के पास एक विशाल मुर्गी एवं मांस बाज़ार खोला गया था जहाँ से देश के सभी बड़े मांस आपूर्ति केंद्रों को रेलवे लाइनों से जोड़ा गया था।

मांस उत्पादों के व्यापार से इस प्रक्रिया का अच्छा अंदाज़ा मिलता है। 1870 के दशक तक अमेरिका से यूरोप को मांस का निर्यात नहीं किया जाता था। उस समय केवल ज़िंदा जानवर ही भेजे जाते थे जिन्हें यूरोप ले जाकर ही काटा जाता था। लेकिन ज़िंदा जानवर बहुत ज़्यादा जगह घेरते थे। बहुत सारे तो लंबे सफ़र में मर जाते थे या बीमार पड़ जाते थे। बहुतों का वज़न गिर जाता था या वे खाने के लायक नहीं रह जाते थे। इसी वजह से मांस खाना एक महंगा सौदा था और यूरोप के ग़रीबों की पहुँच से बाहर था। दूसरी तरफ़, ऊँची कीमतों के कारण मांस उत्पादों की माँग और उत्पादन भी कम रहता था। नयी तकनीक के आने पर यह स्थिति बदल गई। पानी के जहाज़ों में रेफ़्रिजरेशन की तकनीक स्थापित कर दी गई जिससे जल्दी खराब होने वाली चीज़ों को भी लंबी यात्राओं पर ले जाया जा सकता था।

इसके बाद तो जानवरों को यात्रा से पहले ही मारा जाने लगा। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया या न्यूज़ीलैंड, सब जगह से जानवरों की बजाय उनका मांस ही यूरोप भेजा जाने लगा। इससे न केवल समुद्री यात्रा में आने वाला खर्चा कम हो गया बल्कि यूरोप में मांस के दाम भी गिर गए। यूरोप के ग़रीबों को ज़्यादा विविधतापूर्ण खुराक मिलने लगी। पहले उनके पास सिर्फ़ आलू और ब्रेड होते थे। अब बहुत सारे लोगों के भोजन में मांसाहार (और मक्खन व अंडे) भी शामिल हो गया। जीवनस्थिति सुधरी तो देश में शांति स्थापित होने लगी और दूसरे देशों में साम्राज्यवादी मंसूबों को समर्थन मिलने लगा।



चित्र 9 - मांस को अलेक्सांद्रा, जलपोत पर लादा जा रहा है, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1878
मांस का निर्यात तभी संभव हो पाया जब जहाज़ों को ठंडा रखने की व्यवस्था कर ली गई थी।

2.3 उन्नीसवीं सदी के आखिर में उपनिवेशवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशकों में व्यापार बढ़ा और बाज़ार तेज़ी से फैलने लगे। यह केवल फैलते व्यापार और संपन्नता का ही दौर नहीं था। हमें इस प्रक्रिया के स्याह पक्ष को भी नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए। व्यापार में इज़ाफ़े और विश्व अर्थव्यवस्था के साथ निकटता का एक परिणाम यह हुआ कि दुनिया के बहुत सारे भागों में स्वतंत्रता और आजीविका के साधन छिने लगे। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में यूरोपीयों की विजयों से बहुत सारे कष्टदायक आर्थिक, सामाजिक और पारिस्थितिकीय परिवर्तन आए और औपनिवेशिक समाजों को विश्व अर्थव्यवस्था में समाहित कर लिया गया।

जरा अफ्रीका के मानचित्र को देखिए। आप पाएँगे कि वहाँ के कुछ देशों की सीमाएँ तो बिल्कुल सीधी लकीर जैसी हैं मानो उन्हें फुट्टा (Scale) रखकर खींचा गया हो। दुर्भाग्यवश, यही हुआ भी था। अफ्रीका पर कब्जे की कोशिश में लगी प्रतिद्वंद्वी यूरोपीय ताकतों ने अपने-अपने इलाके बाँटने के लिए प्रायः इसी तरीके का सहारा लिया था। 1885 में यूरोप के ताकतवर देशों की बर्लिन में एक बैठक हुई जिसमें अफ्रीका के नक्शे पर इसी तरह लकीरें खींचकर उसको आपस में बाँट लिया गया था।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में ब्रिटेन और फ्रांस ने अपने शासन वाले विदेशी क्षेत्रफल में भारी वृद्धि कर ली थी। बेल्जियम और जर्मनी नयी औपनिवेशिक ताकतों के रूप में सामने आए। पहले स्पेन के कब्जे में रह चुके कुछ उपनिवेशों पर कब्जा करके 1890 के दशक के आखिरी वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका भी औपनिवेशिक ताकत बन गया।

आइए देखें कि उपनिवेशवाद से औपनिवेशिक समाजों की अर्थव्यवस्था और रोजी-रोटी के साधनों पर क्या असर पड़ा।



चित्र 10 - उन्नीसवीं सदी के आखिर में औपनिवेशिक अफ्रीका का मानचित्र।

बॉक्स 2

मध्य अफ्रीका में सर हेनरी मॉर्टन स्टैनली

स्टैनली एक पत्रकार और खोजी थे। न्यूयॉर्क हैराल्ड ने उन्हें कई साल पहले अफ्रीका गए लिविंगस्टन नामक मिशनरी की खोज करने के लिए भेजा था। उस जमाने के अन्य यूरोपीय और अमेरिकी अन्वेषकों की भाँति स्टैनली भी हथियारों से लैस होकर गए थे। उन्होंने वहाँ जाकर स्थानीय शिकारियों, योद्धाओं और मजदूरों को इकट्ठा किया, स्थानीय कबीलों के साथ लड़ाइयाँ लड़ीं, अफ्रीकी भूदृश्य की पड़ताल की और विभिन्न इलाकों के नक्शे बनाए। बाद में इन खोजों और अन्वेषणों से अफ्रीका को जीतने में मदद मिली। ऐसे भौगोलिक अन्वेषण केवल वैज्ञानिक जानकारीयों इकट्ठा करने की सामान्य इच्छा से प्रेरित नहीं होते थे। उनका साम्राज्यवादी योजनाओं से सीधा संबंध होता था।



चित्र 11 - मध्य अफ्रीका में सर हेनरी मॉर्टन स्टैनली और उनकी टोली, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1871

2.4 रिंडरपेस्ट या मवेशी प्लेग

अफ्रीका में 1890 के दशक में रिंडरपेस्ट नामक बीमारी बहुत तेजी से फैल गई। मवेशियों में प्लेग की तरह फैलने वाली इस बीमारी से लोगों की आजीविका और स्थानीय अर्थव्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। यह इस बात का अच्छा उदाहरण है कि औपनिवेशिक समाजों पर यूरोपीय साम्राज्यवादी ताकतों के प्रभाव से बड़े पैमाने पर क्या असर पड़े। इस उदाहरण से पता चलता है कि हमलों और विजयों के इस युग में दुर्घटनावश फैल गई मवेशियों की बीमारी ने भी हज़ारों लोगों का जीवन व भाग्य बदल कर रख दिया और दुनिया के साथ उनके संबंधों को नयी शक्ति में ढाल दिया।

प्राचीन काल से ही अफ्रीका में ज़मीन की कभी कोई कमी नहीं रही जबकि वहाँ की आबादी बहुत कम थी। सदियों तक अफ्रीकियों की ज़िंदगी व कामकाज ज़मीन और पालतू पशुओं के सहारे ही चलता रहा है। वहाँ पैसे या वेतन पर काम करने का चलन नहीं था। उन्नीसवीं सदी के आखिर में अफ्रीका में ऐसे उपभोक्ता सामान बहुत कम थे जिन्हें वेतन के पैसे से खरीदा जा सकता था। अगर आप अफ्रीका के किसान होते और आपके पास ज़मीन और पालतू पशु होते – जिनकी वहाँ कोई कमी नहीं थी – तो शायद आपको भी यह बात समझ में नहीं आती कि वेतन के लिए काम करने की क्या ज़रूरत है।

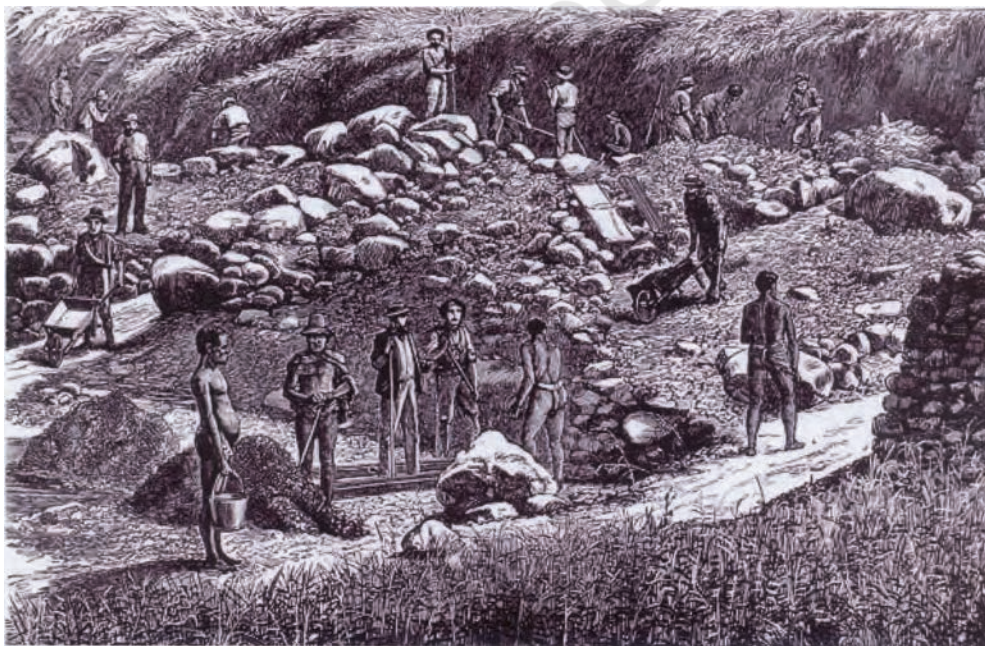
उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोपीय ताकतें अफ्रीका के विशाल भूक्षेत्र और खनिज भंडारों को देखकर इस महाद्वीप की ओर आकर्षित हुई थीं। यूरोपीय लोग अफ्रीका में बागानी खेती करने और खदानों का दोहन करना चाहते थे ताकि उन्हें वापस यूरोप भेजा जा सके। लेकिन वहाँ एक ऐसी समस्या पेश आई जिसकी उन्हें उम्मीद नहीं थी। वहाँ के लोग तनख्वाह पर काम नहीं करना चाहते थे।

मज़दूरों की भर्ती और उन्हें अपने पास रोके रखने के लिए मालिकों ने बहुत सारे हथकंडे आजमा कर देख लिए लेकिन बात नहीं बनी। उन पर भारी भरकम कर लाद दिए गए जिनका भुगतान केवल तभी किया जा सकता था



चित्र 12 - ट्रांसवाल स्वर्ण खानों तक आवागमन, द ग्राफिक, 1887

विल्ज नदी को पार करना ट्रांसवाल की सोना खदानों तक पहुँचने का सबसे छोटा और आसान रास्ता था। विट्वाट्सरैंड में सोने की खोज के बाद तो बीमारियों और मौत की आशंका व रास्ते की कठिनाइयों के बावजूद यूरोप के लोग उस इलाक़े की ओर दौड़ पड़े थे। 1890 के दशक तक आते-आते दुनिया भर के सोना उत्पादन में अफ्रीका का हिस्सा 20 प्रतिशत से भी ऊपर जा चुका था।



चित्र 13 - दक्षिण अफ्रीका के ट्रांसवाल स्वर्ण खदानों में खुदाई करते मज़दूर, द ग्राफिक, 1875

जब करदाता बागानों या खदानों में काम करता हो। काश्तकारों को उनकी ज़मीन से हटाने के लिए उत्तराधिकार कानून भी बदल दिए गए। नए क़ानून में यह व्यवस्था कर दी गई कि अब परिवार के केवल एक ही सदस्य को पैतृक संपत्ति मिलेगी। इस क़ानून के ज़रिए परिवार के बाकी लोगों को श्रम बाज़ार में ढकेलने का प्रयास किया जाने लगा। खानकर्मियों को बाड़ों में बंद कर दिया गया। उनके खुलेआम घूमने-फिरने पर पाबंदी लगा दी गई।

तभी वहाँ रिंगरपेस्ट नामक विनाशकारी पशु रोग फैल गया।

अफ़्रीका में रिंगरपेस्ट नाम की बीमारी सबसे पहले 1880 के दशक के आखिरी सालों में दिखाई दी। उस समय पूर्वी अफ़्रीका में एरिट्रिया पर हमला कर रहे इतालवी सैनिकों का पेट भरने के लिए एशियाई देशों से जानवर लाए जाते थे। यह बीमारी ब्रिटिश अधिपत्य वाले एशियाई देशों से आए उन्हीं जानवरों के ज़रिए यहाँ पहुँची थी। अफ़्रीका के पूर्वी हिस्से से महाद्वीप में दाखिल होने वाली यह बीमारी 'जंगल की आग' की तरह पश्चिमी अफ़्रीका की तरफ़ बढ़ने लगी। 1892 में यह अफ़्रीका के अटलांटिक तट तक जा पहुँची। पाँच साल बाद यह केप (अफ़्रीका का धुर दक्षिणी हिस्सा) तक भी पहुँच गई। रिंगरपेस्ट ने अपने रास्ते में आने वाले 90 प्रतिशत मवेशियों को मौत की नींद सुला दिया।

पशुओं के ख़त्म हो जाने से तो अफ़्रीकियों के रोज़ी-रोटी के साधन ही ख़त्म हो गए। अपनी सत्ता को और मज़बूत करने तथा अफ़्रीकियों को श्रम बाज़ार में ढकेलने के लिए वहाँ के बाग़ान मालिकों, खान मालिकों और औपनिवेशिक सरकारों ने बचे-खुचे पशु भी अपने क़ब्ज़े में ले लिए। बचे-खुचे पशु संसाधनों पर क़ब्ज़े से यूरोपीय उपनिवेशकारों को पूरे अफ़्रीका को जीतने व गुलाम बना लेने का बेहतरीन मौक़ा हाथ लग गया था।

उन्नीसवीं सदी की दुनिया के अन्य भागों पर पश्चिमी आक्रमण और विजय के परिणामों की ऐसी ही और भी कहानियाँ देखी जा सकती हैं।

2.4 भारत से अनुबंधित श्रमिकों का जाना

भारत से अनुबंधित (गिरमिटिया) श्रमिकों को ले जाया जाना भी उन्नीसवीं सदी की दुनिया की विविधता को प्रतिबिंबित करता है। यह तेज़ आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ जनता के कष्टों में वृद्धि, कुछ लोगों की आय में वृद्धि और दूसरों के लिए बेहिसाब गरीबी, कुछ क्षेत्रों में भारी तकनीकी प्रगति और दूसरे क्षेत्रों में उत्पीड़न के नए रूपों की ईजाद की दुनिया थी।

उन्नीसवीं सदी में भारत और चीन के लाखों मजदूरों को बाग़ानों, खदानों और सड़क व रेलवे निर्माण परियोजनाओं में काम करने के लिए दूर-दूर के देशों में ले जाया जाता था। भारतीय अनुबंधित श्रमिकों को खास तरह के अनुबंध या एग्रीमेंट के तहत ले जाया जाता था। इन अनुबंधों में यह शर्त होती थी कि यदि मजदूर अपने मालिक के बाग़ानों में पाँच साल काम कर लेंगे तो वे स्वदेश लौट सकते हैं।

भारत के ज्यादातर अनुबंधित श्रमिक मौजूदा पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत और तमिलनाडु के सूखे इलाकों से जाते थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य में इन इलाकों में भारी बदलाव आने लगे थे। कुटीर उद्योग ख़त्म हो रहे थे,

जमीन का भाड़ा बढ़ गया था, खानों और बागानों के लिए जमीनों को साफ़ किया जा रहा था। इन परिवर्तनों से गरीबों के जीवन पर गहरा असर पड़ा। वे बैटाई पर जमीन तो ले लेते थे लेकिन उसका भाड़ा नहीं चुका पाते थे, उन पर क़र्ज़ा चढ़ने लगा। काम की तलाश में उन्हें अपने घर-बार छोड़ने पड़े।

भारतीय अनुबंधित श्रमिकों को मुख्य रूप से कैरीबियाई द्वीप समूह (मुख्यतः त्रिनिदाद, गुयाना और सुरिनाम), मॉरिशस व फ़िजी ले जाया जाता था। तमिल आप्रवासी सीलोन और मलाया जाकर काम करते थे। बहुत सारे अनुबंधित श्रमिकों को असम के चाय बागानों में काम करवाने के लिए भी ले जाया जाता था।

मज़दूरों की भर्ती का काम मालिकों के एजेंट किया करते थे। एजेंटों को कमीशन मिलता था। बहुत सारे आप्रवासी अपने गाँव में होने वाले उत्पीड़न और ग़रीबी से बचने के लिए भी इन अनुबंधों को मान लेते थे। एजेंट भी भावी आप्रवासियों को फुसलाने के लिए झूठी जानकारी देते थे। कहाँ जाना है, यात्रा के साधन क्या होंगे, क्या काम करना होगा, और नयी जगह पर काम व जीवन के हालात कैसे होंगे, इस बारे में उन्हें सही जानकारी नहीं दी जाती थी। बहुत सारे आप्रवासियों को तो यह भी नहीं बताया जाता था कि उन्हें लंबी समुद्री यात्रा पर जाना है। अगर कोई मज़दूर अनुबंध के लिए राजी नहीं होता था तो एजेंट उसका अपहरण तक कर लेते थे।

उन्नीसवीं सदी की इस अनुबंध व्यवस्था को बहुत सारे लोगों ने 'नयी दास प्रथा' का भी नाम दिया है। बागानों में या कार्यस्थल पर पहुँचने के बाद मज़दूरों को पता चलता था कि वे जैसी उम्मीद कर रहे थे यहाँ वैसे हालात नहीं हैं। नयी जगह की जीवन एवं कार्य स्थितियाँ कठोर थीं और मज़दूरों के पास क़ानूनी अधिकार कहने भर को भी नहीं थे। इसके बावजूद मज़दूरों ने भी ज़िंदगी बसर करने के अपने तरीक़े ढूँढ़ निकाले। बहुत सारे तो भाग कर जंगलों में ही चले गए। अगर ऐसे मज़दूर पकड़े जाते तो उन्हें भारी सज़ा दी जाती थी। बहुतों ने अपनी पुरानी और नयी संस्कृतियों का सम्मिश्रण करते हुए व्यक्तिगत और सामूहिक आत्माभिव्यक्ति के नए रूप खोज लिए। त्रिनिदाद में मुहर्रम के सालाना जुलूस को एक विशाल उत्सवी मेले का रूप दे दिया गया। इस मेले को 'होसे' (इमाम हुसैन के नाम पर) नाम दिया गया। उसमें सभी धर्मों व नस्लों के मज़दूर हिस्सा लेते थे। इसी प्रकार रास्ताफारियानवाद (Rastafarianism) नामक विद्रोही धर्म (जिसे जमैका के रैगे गायक बॉब मार्ले ने ख्याति के शिखर पर पहुँचा दिया) में भी भारतीय आप्रवासियों और कैरीबियाई द्वीपसमूह के बीच इन संबंधों की झलक देखी जा सकती है। त्रिनिदाद और गुयाना में मशहूर 'चटनी म्यूज़िक' भी भारतीय आप्रवासियों के वहाँ पहुँचने के बाद सामने आई रचनात्मक अभिव्यक्तियों का ही उदाहरण है। सांस्कृतिक समागम के ये स्वरूप एक नयी वैश्विक दुनिया के उदय की प्रक्रिया का अंग थे। यह ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें अलग-अलग स्थानों की चीज़ें आपस में घुल-मिल जाती थीं, उनकी मूल पहचान और विशिष्टताएँ गुम हो जाती थीं और बिल्कुल नया रूप सामने आता था।



चित्र 14 - त्रिनिदाद के एक कोको (Cocoa) बागान में काम करते भारतीय गिरमिटिया मज़दूर, उन्नीसवीं सदी का प्रारंभ।

चर्चा करें

राष्ट्रीय पहचान के निर्माण में भाषा और लोक परंपराओं के महत्त्व पर चर्चा करें।



चित्र 15 - शिनाख़ के लिए गिरमिटिया मज़दूरों के चित्र। मालिकों के लिए इन मज़दूरों के नाम नहीं बल्कि उनकी संख्या का ही महत्त्व होता था।

ज्यादातर अनुबंधित श्रमिक अनुबंध समाप्त हो जाने के बाद भी वापस नहीं लौटे। जो वापस लौटे उनमें से भी अधिकांश केवल कुछ समय यहाँ बिता कर फिर अपने नए ठिकानों पर वापस चले गए। इसी कारण इन देशों में भारतीय मूल के लोगों की संख्या बहुत ज्यादा पाई जाती है। क्या आपने नोबेल पुरस्कार विजेता साहित्यकार वी. एस. नायपॉल का नाम सुना है? आपमें से कुछ लोगों ने वेस्ट इंडीज के क्रिकेट खिलाड़ी शिवनरैन चंद्रपॉल और रामनरेश सरवन का नाम भी सुना ही होगा। क्या आपको कभी ऐसा लगता है कि उनके नाम हम भारतीयों जैसे क्यों हैं? इसकी वजह यही है कि वे भारत से गए अनुबंधित मजदूरों के ही वंशज हैं।

बीसवीं सदी के शुरुआती सालों से ही हमारे देश के राष्ट्रवादी नेता इस प्रथा का विरोध करने लगे थे। उनकी राय में यह बहुत अपमानजनक और क्रूर व्यवस्था थी। इसी दबाव के कारण 1921 में इसे खत्म कर दिया गया। लेकिन इसके बाद भी कई दशक तक भारतीय अनुबंधित मजदूरों के वंशज कैरीबियाई द्वीप समूह में बेचैन अल्पसंख्यकों का जीवन जीते रहे। वहाँ के लोग उन्हें 'कुली' मानते थे और उनके साथ कुलियों जैसा बर्ताव करते थे। नायपॉल के कुछ प्रारंभिक उपन्यासों में विछोह और परायेपन के इस अहसास को खूब देखा जा सकता है।

2.5 विदेश में भारतीय उद्यमी

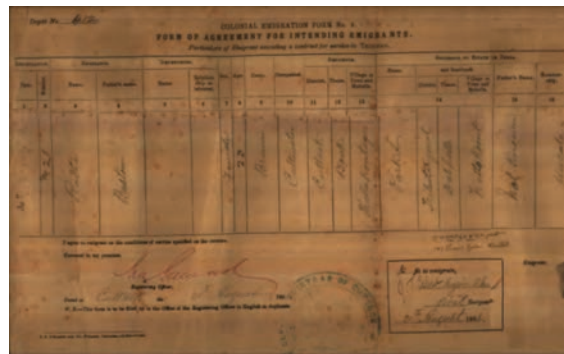
विश्व बाजार के लिए खाद्य पदार्थ व फ़सलें उगाने के वास्ते पूँजी की आवश्यकता थी। बड़े बागानों के लिए तो बाजार और बैंकों से पैसा लिया जा सकता था। लेकिन छोटे-मोटे किसानों का क्या होता?

यहीं से देशी साहूकार और महाजन दृश्य में आते हैं। क्या आपने शिकारीपूरी श्रॉफ और नट्टूकोट्टई चेट्टियारों के बारे में सुना है? ये उन बहुत सारे बैंकरों और व्यापारियों में से थे जो मध्य एवं दक्षिण पूर्व एशिया में निर्यातोन्मुखी खेती के लिए कर्जें देते थे। इसके लिए वे या तो अपनी जेब से पैसा लगाते थे या यूरोपीय बैंकों से कर्जें लेते थे। उनके पास दूर-दूर तक पैसे पहुँचाने की एक व्यवस्थित पद्धति होती थी। यहाँ तक कि उन्होंने व्यावसायिक संगठनों और क्रियाकलापों के देशी स्वरूप भी विकसित कर लिए थे।

अफ़्रीका में यूरोपीय उपनिवेशकारों के पीछे-पीछे भारतीय व्यापारी और महाजन भी जा पहुँचे। हैदराबादी सिंधी व्यापारी तो यूरोपीय उपनिवेशों से भी आगे तक जा निकले। 1860 के दशक से उन्होंने दुनिया भर के बंदरगाहों पर अपने बड़े-बड़े एम्पोरियम खोल दिए। इन दुकानों में सैलानियों को आकर्षक स्थानीय और विदेशी चीज़ें मिलती थीं। यह एक फलता-फूलता कारोबार था क्योंकि सुरक्षित और आरामदेह जलपोतों के आ जाने से सैलानियों की संख्या भी दिनोंदिन बढ़ने लगी थी।

2.6 भारतीय व्यापार, उपनिवेशवाद और वैश्विक व्यवस्था

भारत में पैदा होने वाली महीन कपास का यूरोपीय देशों को निर्यात किया जाता था। औद्योगीकरण के बाद ब्रिटेन में भी कपास का उत्पादन बढ़ने लगा था। इसी कारण वहाँ के उद्योगपतियों ने सरकार पर दबाव डाला कि वह कपास के आयात पर रोक लगाए और स्थानीय उद्योगों की रक्षा करे। फलस्वरूप,



चित्र 16 - एक अनुबंधित श्रमिक (गिरमिटिया मजदूर) के अनुबंध का फॉर्म।

स्रोत-क

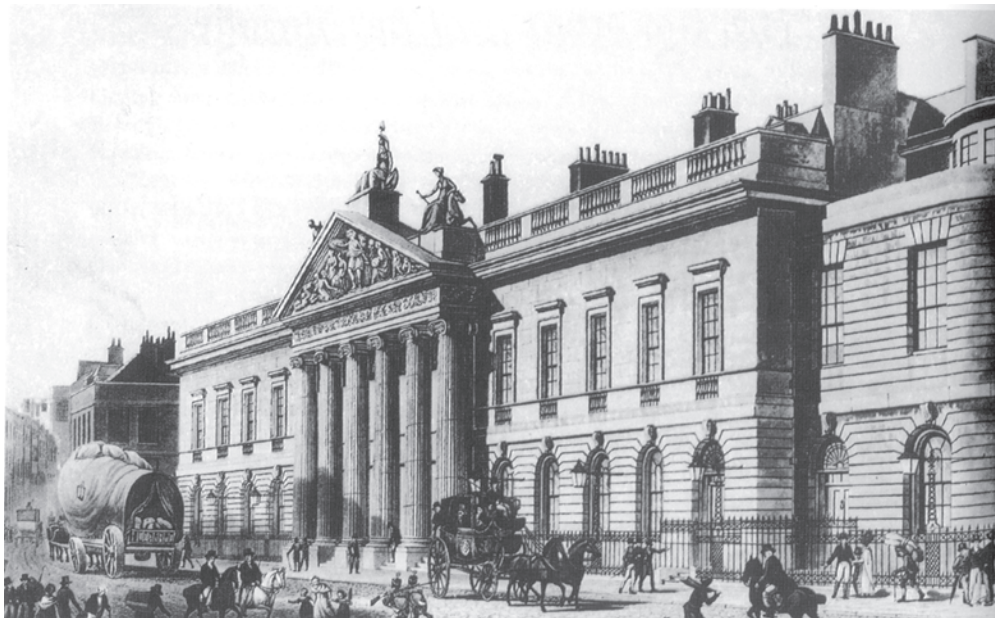
एक गिरमिटिया मजदूर की आपबीती

राम नारायण तिवारी भारत से गए गिरमिटिया मजदूर थे जिन्होंने बीसवीं सदी की शुरुआत में डेमेरारा में दस साल काम किया था। उनके संस्मरण का एक अंश :

‘... तमाम कोशिशों के बावजूद मैं उन कामों को ठीक से नहीं कर पाया जो मुझे सौंपे गए थे। ... कुछ ही दिनों के भीतर मेरे हाथ सब जगह से छिल गए और मैं हफ्ते भर तक काम पर नहीं जा पाया जिसके लिए मुझे सज़ा दी गई और 14 दिन जेल में काटने पड़े। ... नए आप्रवासियों को काम बहुत भारी पड़ता था और वे दिन भर में अपना काम पूरा नहीं कर पाते थे। ... अगर काम संतोषजनक ढंग से पूरा न हुआ तो तनख्वाह भी काट ली जाती है। इसीलिए बहुत सारे लोगों को उनका पूरा वेतन नहीं मिल पाता है और उन्हें तरह-तरह से सज़ा दी जाती है। दरअसल मजदूरों को अपने अनुबंध की अवधि भारी मुश्किलों में बितानी पड़ती है..।’

स्रोत: वाणिज्य एवं उद्योग विभाग, आप्रवासन शाखा, 1916

स्रोत



चित्र 17 - ईस्ट इंडिया कंपनी हाउस, लंदन।
ईस्ट इंडिया कंपनी के दुनिया भर में चलने वाले कार्यों का केंद्र यहीं था।

ब्रिटेन में आयातित कपड़ों पर सीमा शुल्क थोप दिए गए। वहाँ महीन भारतीय कपास का आयात कम होने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत से ही ब्रिटिश कपड़ा उत्पादक दूसरे देशों में भी अपने कपड़े के लिए नए-नए बाजार ढूँढ़ने लगे थे। सीमा शुल्क की व्यवस्था के कारण ब्रिटिश बाजारों से बेदखल हो जाने के बाद भारतीय कपड़ों को दूसरे अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में भी भारी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। यदि भारतीय निर्यात के आँकड़ों का अध्ययन करें तो पता चलता है कि सूती कपड़े के निर्यात में लगातार गिरावट का ही रुझान दिखाई देता है। सन् 1800 के आसपास निर्यात में सूती कपड़े का प्रतिशत 30 था जो 1815 में घट कर 15 प्रतिशत रह गया। 1870 तक तो यह अनुपात केवल 3 प्रतिशत रह गया था।

तो फिर भारत ने किन चीजों का निर्यात किया? आँकड़ों के माध्यम से फिर एक नाटकीय कहानी सामने आती है। निर्मित वस्तुओं का निर्यात घटता जा रहा था और उतनी ही तेजी से कच्चे मालों का निर्यात बढ़ता जा रहा था। 1812 से 1871 के बीच कच्चे कपास का निर्यात 5 प्रतिशत से बढ़ कर 35

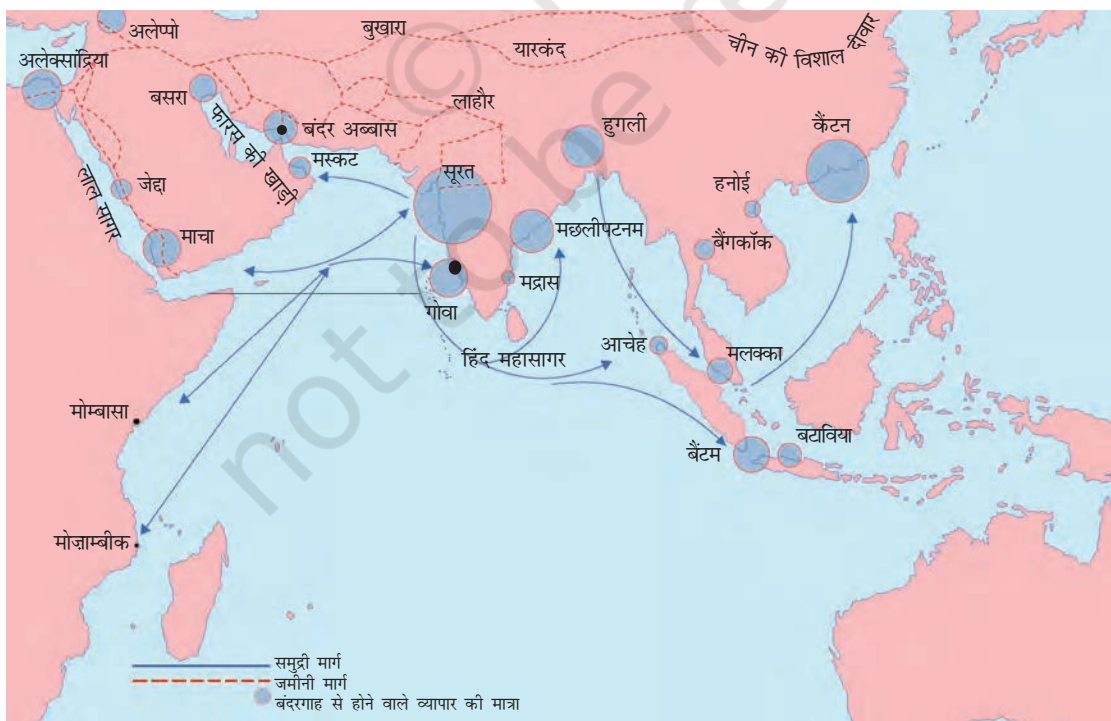


चित्र 18 - सूरत और उसके साथ बहने वाली नदी का दूर से दिखने वाला दृश्य। सत्रहवीं सदी के दौरान और अठारहवीं सदी के शुरुआती सालों में सूरत पश्चिमी भारत से होने वाले समुद्री व्यापार का मुख्य केंद्र रहा।

प्रतिशत तक पहुँच गया था। कपड़ों की रँगई के लिए इस्तेमाल होने वाले नील का भी कई दशक तक बड़े पैमाने पर निर्यात होता रहा। जैसा कि आपने पिछली कक्षा में पढ़ा ही था, 1820 के दशक से चीन को बड़ी मात्रा में अफ़ीम का निर्यात भी किया जाने लगा। कुछ समय तक तो भारतीय निर्यात में अफ़ीम का हिस्सा ही सबसे ज्यादा रहा। ब्रिटेन की सरकार भारत में अफ़ीम की खेती करवाती थी और उसे चीन को निर्यात कर देती थी। अफ़ीम के निर्यात से जो पैसा मिलता था उसके बदले चीन से ही चाय और दूसरे पदार्थों का आयात किया जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय बाजारों में ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादों की बाढ़ ही आ गई थी। भारत से ब्रिटेन और शेष विश्व को भेजे जाने वाले खाद्यान्न व कच्चे मालों के निर्यात में इज़ाफ़ा हुआ। ब्रिटेन से जो माल भारत भेजा जाता था उसकी कीमत भारत से ब्रिटेन भेजे जाने वाले माल की कीमत से बहुत ज्यादा होती थी। भारत के साथ ब्रिटेन हमेशा 'व्यापार अधिशेष' की अवस्था में रहता था। इसका मतलब है कि आपसी व्यापार में हमेशा ब्रिटेन को ही फ़ायदा रहता था। ब्रिटेन इस मुनाफ़े के सहारे दूसरे देशों के साथ होने वाले व्यापारिक घाटे की भरपाई कर लेता था। बहुपक्षीय बंदोबस्त ऐसे ही काम करता है। इसमें एक देश के मुकाबले दूसरे देश को होने वाले घाटे की भरपाई किसी तीसरे देश के साथ व्यापार में मुनाफ़ा कमा कर की जाती है। ब्रिटेन के घाटे की भरपाई में मदद देते हुए भारत ने उन्नीसवीं सदी की विश्व अर्थव्यवस्था का रूप तय करने में एक अहम भूमिका अदा की थी।

ब्रिटेन के व्यापार से जो अधिशेष हासिल होता था उससे तथाकथित 'होम चार्ज' (देसी खर्च) का निबटारा होता था। इसके तहत ब्रितानी अफ़सरों और व्यापारियों द्वारा अपने घर में भेजी गई निजी रकम, भारतीय बाहरी क़र्ज पर ब्याज और भारत में काम कर चुके ब्रितानी अफ़सरों की पेंशन शामिल थी।



चित्र 19 - सत्रहवीं सदी के अंत में भारत को शेष विश्व से जोड़ने वाले व्यापारिक मार्ग।

3 महायुद्धों के बीच अर्थव्यवस्था

पहला महायुद्ध मुख्य रूप से यूरोप में ही लड़ा गया। लेकिन उसके असर सारी दुनिया में महसूस किए गए। इस अध्याय में हम जिन चीजों पर विचार कर रहे हैं उनकी दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह रहा है कि इस युद्ध ने विश्व अर्थव्यवस्था को एक ऐसे संकट में ढकेल दिया जिससे उबरने में दुनिया को तीन दशक से भी ज्यादा समय लग गया। इस दौरान पुरी दुनिया में चौतरफा आर्थिक एवं राजनीतिक अस्थिरता बनी रही और अंत में मानवता एक और विनाशकारी महायुद्ध के नीचे कराहने लगी।

3.1 युद्धकालीन रूपांतरण

जैसा कि आप जानते ही हैं, पहला विश्वयुद्ध दो खेमों के बीच लड़ा गया था। एक पाले में मित्र राष्ट्र यानी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस थे तो दूसरे पाले में केंद्रीय शक्तियाँ यानी जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी और ऑटोमन तुर्की थे। अगस्त 1914 में जब युद्ध शुरू हुआ उस समय बहुत सारी सरकारों को यही लगता था कि यह युद्ध ज्यादा से ज्यादा क्रिसमस तक खत्म हो जाएगा। पर यह युद्ध तो चार साल से भी ज्यादा समय तक चलता रहा।

मानव सभ्यता के इतिहास में ऐसा भीषण युद्ध पहले कभी नहीं हुआ था। इस युद्ध में दुनिया के सबसे अगुआ औद्योगिक राष्ट्र एक-दूसरे से जूझ रहे थे और शत्रुओं को नेस्तनाबूद करने के लिए उनके पास बेहिसाब आधुनिक औद्योगिक शक्ति इकट्ठा हो चुकी थी।

यह पहला आधुनिक औद्योगिक युद्ध था। इस युद्ध में मशीनगनों, टैंकों, हवाई जहाजों और रासायनिक हथियारों का भयानक पैमाने पर इस्तेमाल किया गया। ये सभी चीजें आधुनिक विशाल उद्योगों की देन थीं। युद्ध के लिए दुनिया भर से असंख्य सिपाहियों की भर्ती की जानी थी और उन्हें विशाल जलपोतों व रेलगाड़ियों में भर कर युद्ध के मोर्चों पर ले जाया जाना था। इस युद्ध ने मौत और विनाश की जैसी विभिषिका रची उसकी औद्योगिक युग से पहले और औद्योगिक शक्ति के बिना कल्पना नहीं की जा सकती थी। युद्ध में 90 लाख से ज्यादा लोग मारे गए और 2 करोड़ घायल हुए।

मृतकों और घायलों में से ज्यादातर कामकाजी उम्र के लोग थे। इस महाविनाश के कारण यूरोप में कामकाज के लायक लोगों की संख्या बहुत कम रह गई। परिवार के सदस्य घट जाने से युद्ध के बाद परिवारों की आय भी गिर गई।

युद्ध संबंधी सामग्री का उत्पादन करने के लिए उद्योगों का पुनर्गठन किया गया। युद्ध की जरूरतों के मद्देनजर पूरे के पूरे समाजों को बदल दिया गया। मर्द मोर्चों पर जाने लगे तो



चित्र 20 - प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एक हथियार फैक्ट्री में काम करते मजदूर। युद्ध की जरूरतों को पूरा करने के लिए हथियारों के उत्पादन में तेजी से इजाफा हुआ।

उन कामों को सँभालने के लिए घर की औरतों को बाहर आना पड़ा जिन्हें अब तक केवल मर्दों का ही काम माना जाता था।

युद्ध के कारण दुनिया की कुछ सबसे शक्तिशाली आर्थिक ताकतों के बीच आर्थिक संबंध टूट गए। अब वे देश एक-दूसरे से बदला लेने पर उतारू थे। इस युद्ध के लिए ब्रिटेन को अमेरिकी बैंकों और अमेरिकी जनता से भारी ऋण लेना पड़ा। फलस्वरूप, इस युद्ध ने अमेरिका को ऋणदाता की बजाय ऋणदाता देश बना दिया। कहने का आशय यह है कि युद्ध के बाद दूसरे देशों में अमेरिका व उसके नागरिकों की संपत्तियों की कीमत अमेरिका में दूसरे देशों की सरकारों या उन नागरिकों के स्वामित्व अथवा नियंत्रण वाली संपदाओं से कहीं ज़्यादा हो चुकी थी।

3.2 युद्धोत्तर सुधार

युद्ध के बाद आर्थिक स्थिति को पटरी पर लाने का रास्ता काफ़ी मुश्किल साबित हुआ। युद्ध से पहले ब्रिटेन दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था था। युद्ध के बाद सबसे लंबा संकट उसे ही झेलना पड़ा। जिस समय ब्रिटेन युद्ध से जूझ रहा था उसी समय भारत और जापान में उद्योग विकसित होने लगे थे। युद्ध के बाद भारतीय बाज़ार में पहले वाली वर्चस्वशाली स्थिति प्राप्त करना ब्रिटेन के लिए बहुत मुश्किल हो गया था। अब उसे जापान से भी मुकाबला करना था, सो अलग। युद्ध के खर्च की भरपाई करने के लिए ब्रिटेन ने अमेरिका से ज़म कर ऋण लिए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध खत्म होने तक ब्रिटेन भारी विदेशी ऋणों में दब चुका था।

युद्ध के कारण आर्थिक उछाह का माहौल पैदा हो गया था क्योंकि माँग, उत्पादन और रोज़गारों में भारी इज़ाफ़ा हुआ था। पर जब युद्ध के कारण पैदा हुआ उछाह शांत होने लगा तो उत्पादन गिरने लगा और बेरोज़गारी बढ़ने लगी। दूसरी ओर सरकार ने भारी-भरकम युद्ध संबंधी व्यय में भी कटौती शुरू कर दी ताकि शांतिकालीन करों के सहारे ही उनकी भरपाई की जा सके। इन सारे प्रयासों से रोज़गार भारी तादाद में खत्म हुए। 1921 में हर पाँच में से एक ब्रिटिश मज़दूर के पास काम नहीं था। रोज़गार के बारे में बेचैनी और अनिश्चितता युद्धोत्तर वातावरण का अंग बन गई थी।

बहुत सारी कृषि आधारित अर्थव्यवस्थाएँ भी संकट में थीं। उदाहरण के लिए, गेहूँ उत्पादकों की हालत पर ही विचार कीजिए। युद्ध से पहले पूर्वी यूरोप विश्व बाज़ार में गेहूँ की आपूर्ति करने वाला एक बड़ा केंद्र था। युद्ध के दौरान यह आपूर्ति अस्त-व्यस्त हुई तो कनाडा, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में गेहूँ की पैदावार अचानक बढ़ने लगी। लेकिन जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ पूर्वी यूरोप में गेहूँ की पैदावार सुधरने लगी और विश्व बाज़ारों में गेहूँ की अति के हालात पैदा हो गए। अनाज की कीमतें गिर गई, ग्रामीण आय कम हो गई और किसान गहरे ऋण संकट में फँस गए।

3.3 बड़े पैमाने पर उत्पादन और उपभोग

अमेरिका में सुधार की गति तेज़ रही। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि युद्ध से अमेरिका की अर्थव्यवस्था को कितना फ़ायदा पहुँचा था। युद्ध के बाद

कुछ समय के लिए तो अमेरिकी अर्थव्यवस्था को भी झटका लगा लेकिन बीस के दशक के शुरुआती सालों से ही अमेरिकी अर्थव्यवस्था तेजी से तरक्की के रास्ते पर बढ़ने लगी।

1920 के दशक की अमेरिकी अर्थव्यवस्था की एक बड़ी खासियत थी बृहत उत्पादन (Mass Production) का चलन। बृहत उत्पादन की ओर बढ़ने का सिलसिला तो उन्नीसवीं सदी के आखिर में ही शुरू हो चुका था लेकिन 1920 के दशक में तो यह अमेरिकी औद्योगिक उत्पादन की विशेषता ही बन गया था। कार निर्माता हेनरी फ़ोर्ड बृहत उत्पादन के विख्यात प्रणेता थे। उन्होंने शिकागो के एक बूचड़खाने की असेंबली लाइन की तर्ज़ पर डेट्रॉयट के अपने कार कारखाने में भी आधुनिक असेंबली लाइन स्थापित की थी। शिकागो के बूचड़खाने में मरे हुए जानवरों को एक कन्वेयर बेल्ट पर रख दिया जाता था और उसके दूसरे सिरे पर खड़े मांस विक्रेता अपने हिस्से का मांस उठा कर निकलते जाते थे। यह देख कर फ़ोर्ड को लगा कि गाड़ियों के उत्पादन के लिए भी असेंबली लाइन का तरीका समय और पैसे, दोनों के लिहाज़ से किफ़ायती साबित हो सकता है। असेंबली लाइन पर मजदूरों को एक ही काम – जैसे, कार के किसी खास पुर्जे को ही लगाते रहना – मशीनी ढंग से बार-बार करते रहना होता था। काम की रफ़्तार इस बात से तय होती थी कि कन्वेयर बेल्ट किस रफ़्तार से चलती है। यह काम की गति बढ़ाकर प्रत्येक मजदूर की उत्पादकता बढ़ाने वाला तरीका था। कन्वेयर बेल्ट के साथ खड़े होने के बाद कोई मजदूर अपने काम में ढील करने या कुछ पल के लिए भी अवकाश लेने का जोखिम नहीं उठा सकता था। और तो और, इस व्यवस्था में मजदूर अपने साथियों के साथ बातचीत भी नहीं कर सकते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि हेनरी फ़ोर्ड के कारखाने की असेंबली लाइन से हर तीन मिनट में एक कार तैयार होकर निकलने लगी। इससे पहले की पद्धतियों के मुकाबले यह रफ़्तार कई गुना ज़्यादा थी। टी-मॉडल नामक कार बृहत उत्पादन पद्धति से बनी पहली कार थी।

शुरुआत में फ़ोर्ड फ़ैक्ट्री के मजदूरों को असेंबली लाइन पर पैदा होने वाली थकान झेलने में काफ़ी मुश्किल महसूस हुई क्योंकि वे उसकी रफ़्तार को किसी भी तरह नियंत्रित नहीं कर सकते थे। बहुत सारे मजदूरों ने काम छोड़ दिया। इस चुनौती से निपटने के लिए फ़ोर्ड ने हताश होकर जनवरी 1914 से वेतन दोगुना यानी 5 डॉलर प्रतिदिन कर दिया। साथ ही उन्होंने अपने कारखानों में ट्रेड यूनियन गतिविधियों पर भी पाबंदी लगा दी।

तनख़्वाह बढ़ाने से हेनरी फ़ोर्ड के मुनाफ़े में जो कमी आई थी उसकी भरपाई करने के लिए वे अपनी असेंबली लाइन की रफ़्तार बार-बार बढ़ाने लगे। उनके मजदूरों पर काम का बोझ लगातार बढ़ता रहता था। अपने इस फ़ैसले से फ़ोर्ड बहुत संतुष्ट थे। कुछ समय बाद उन्होंने कहा था कि 'लागत कम करने के लिए' अपनी ज़िंदगी में उन्होंने इससे अच्छा फ़ैसला कभी नहीं लिया।

फ़ोर्ड द्वारा अपनाई गई उत्पादन पद्धतियों को जल्दी ही पूरे अमेरिका में अपनाया जाने लगा। बीस के दशक में ही यूरोप में भी उनकी नक़ल की जाने



चित्र 21 - फ़ैक्ट्री के बाहर कतार में खड़ी टी-मॉडल गाड़ियाँ।

लगी। बृहत उत्पादन पद्धति ने इंजीनियरिंग आधारित चीजों की लागत और कीमत में कमी ला दी। बेहतर वेतन के चलते अब बहुत सारे मजदूर भी कार जैसी टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ खरीद सकते थे। 1919 में अमेरिका में 20 लाख कारों का उत्पादन होता था जो 1929 में बढ़कर 50 लाख कार प्रतिवर्ष से भी ऊपर जा पहुँचा। इसके साथ ही बहुत सारे लोग फ्रिज, वॉशिंग मशीन, रेडियो, ग्रामोफोन प्लेयर्स आदि भी खरीदने लगे। ये सब चीजें 'हायर-परचेज' व्यवस्था के तहत खरीदी जाती थीं। यानी लोग ये सारी चीजें क़र्ज़ पर खरीदते थे और उनकी कीमत साप्ताहिक या मासिक किस्तों में चुकाई जाती थी। मकानों के निर्माण और निजी मकानों की संख्या में वृद्धि से भी फ्रिज, वॉशिंग मशीन आदि उपकरणों की माँग में इज़ाफ़ा हुआ। उल्लेखनीय है कि घरों का निर्माण या खरीदारी भी क़र्ज़ पर ही की जा रही थी।

1920 के दशक में आवास एवं निर्माण क्षेत्र में आए उछाल से अमेरिकी संपन्नता का आधार पैदा हो चुका था। मकानों के निर्माण और घरेलू ज़रूरत की चीजों में निवेश से रोज़गार और माँग बढ़ती थी तो दूसरी ओर उपभोग भी बढ़ता था। बढ़ते उपभोग के लिए और ज़्यादा निवेश की ज़रूरत थी जिससे और नए रोज़गार व आमदनी में वृद्धि होने लगती थी।

1923 में अमेरिका शेष विश्व को पूँजी का निर्यात दोबारा करने लगा और वह दुनिया में सबसे बड़ा क़र्जदाता देश बन गया। अमेरिका द्वारा आयात और पूँजी निर्यात ने यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं को भी संकट से उबरने में मदद दी। अगले छह साल में विश्व व्यापार व आय वृद्धि दर में काफ़ी सुधार आया।

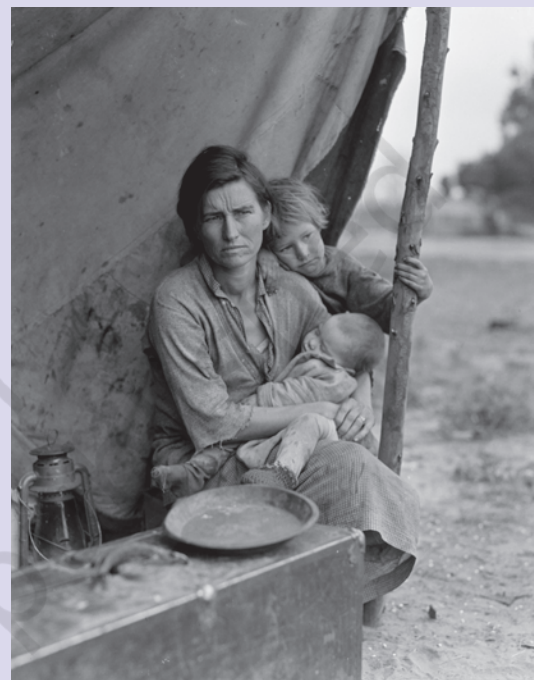
लेकिन यह स्थिति लंबे समय तक कायम नहीं रह पाई। 1929 तक आते-आते दुनिया एक ऐसे आर्थिक संकट में फँस गई जिसका दुनिया ने पहले कभी अनुभव नहीं किया था।

3.4 महामंदी

आर्थिक महामंदी की शुरुआत 1929 से हुई और यह संकट तीस के दशक के मध्य तक बना रहा। इस दौरान दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों के उत्पादन, रोज़गार, आय और व्यापार में भयानक गिरावट दर्ज की गई। इस मंदी का समय और असर सब देशों में एक जैसा नहीं था लेकिन आमतौर पर ऐसा माना जा सकता है कि कृषि क्षेत्रों और समुदायों पर इसका सबसे बुरा असर पड़ा। ऐसा इसलिए हुआ था क्योंकि औद्योगिक उत्पादों की तुलना में खेतिहर उत्पादों की कीमतों में ज़्यादा भारी और ज़्यादा समय तक कमी बनी रही।

इस महामंदी के कई कारण थे। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि युद्धोत्तर विश्व अर्थव्यवस्था कितनी कमज़ोर थी। पहला कारण यह था कि कृषि क्षेत्र में अति उत्पादन की समस्या बनी हुई थी। कृषि उत्पादों की गिरती कीमतों के कारण स्थिति और खराब हो गई थी। कीमतें गिरीं और किसानों की आय घटने लगी तो आमदनी बढ़ाने के लिए किसान उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करने लगे ताकि कम कीमत पर ही सही लेकिन ज़्यादा माल पैदा करके वे अपना आय स्तर बनाए रख सकें।

बॉक्स 3



चित्र 22 - महामंदी के दौरान एक आप्रवासी खेत मजदूर का बेघर और भूखा परिवार, 1936
सौजन्य : लायब्रेरी ऑफ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फोटोग्राफ्स डिविजन।

यह चित्र लेने वाली डॉरोथी लेंग ने इस भूखी माँ के साथ अपनी मुलाकात के क्षणों को याद करते हुए बहुत साल बाद कहा था –

‘मैंने इस भूखी, लाचार औरत को देखा और मानो किसी चुंबक से खिंची मैं उसकी ओर बढ़ती चली गई...। मैंने न तो उसका नाम पूछा न उसके अतीत के बारे में सवाल किए। उसने मुझे अपनी उम्र बताई। उसने कहा कि उसकी उम्र पैंतीस साल है। उसने कहा कि वे लोग (यानी माँ और उसके सात बच्चे) आसपास के खेतों में जाड़ों से जमी पड़ी सब्जियों और उन परिंदों के सहारे जिंदा हैं जिन्हें उसके बच्चे मार लाते हैं...। वो वहाँ बैठी थी... अपने बच्चों को चिपटाए, शायद उसे लगता था कि मेरी तसवीर उसकी कोई मदद कर सकती है इसलिए उसने मेरी मदद कर दी...।’

स्रोत : पॉपुलर फोटोग्राफी, फ़रवरी 1960

फलस्वरूप, बाजार में कृषि उत्पादों की आमद और भी बढ़ गई। जाहिर है, कीमतें और नीचे चली गईं। खरीदारों के अभाव में कृषि उपज पड़ी-पड़ी सड़ने लगी।

दूसरा कारण : 1920 के दशक के मध्य में बहुत सारे देशों ने अमेरिका से कर्ज लेकर अपनी निवेश संबंधी जरूरतों को पूरा किया था। जब हालात अच्छे थे तो अमेरिका से कर्जा जुटाना बहुत आसान था लेकिन संकट का संकेत मिलते ही अमेरिकी उद्यमियों के होश उड़ गए। 1928 के पहले छह माह तक विदेशों में अमेरिका का कर्जा एक अरब डॉलर था। साल भर के भीतर यह कर्जा घटकर केवल चौथाई रह गया था। जो देश अमेरिकी कर्ज पर सबसे ज्यादा निर्भर थे उनके सामने गहरा संकट आ खड़ा हुआ।

भले ही सब देशों में एक जैसा प्रभाव न पड़ा हो लेकिन अमेरिकी पूँजी के लौट जाने से पूरी दुनिया पर असर जरूर पड़ा। यूरोप में कई बड़े बैंक धराशायी हो गए। कई देशों की मुद्रा की कीमत बुरी तरह गिर गई। इस झटके से ब्रिटिश पाउंड भी नहीं बच पाया। लैटिन अमेरिका और अन्य स्थानों पर कृषि एवं कच्चे मालों की कीमतें तेजी से लुढ़कने लगीं। अमेरिकी सरकार इस महामंदी से अपनी अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए आयातित पदार्थों पर दो गुना सीमा शुल्क वसूल करने लगी। इस फैसले ने तो विश्व व्यापार की कमर ही तोड़ दी।

औद्योगिक देशों में भी मंदी का सबसे बुरा असर अमेरिका को ही झेलना पड़ा। कीमतों में कमी और मंदी की आशंका को देखते हुए अमेरिकी बैंकों ने घरेलू कर्ज देना बंद कर दिया। जो कर्ज दिए जा चुके थे उनकी वसूली तेज कर दी गई। किसान उपज नहीं बेच पा रहे थे, परिवार तबाह हो गए, कारोबार ठप पड़ गए। आमदनी में गिरावट आने पर अमेरिका के बहुत सारे परिवार कर्ज चुकाने में नाकामयाब हो गए जिसके चलते उनके मकान, कार और सारी जरूरी चीजें कुर्क कर ली गईं। बीस के दशक में जो उपभोक्तावादी संपन्नता दिखाई दे रही थी वह धूल के गुबार की तरह रातोंरात काफूर हो गई थी। बेरोजगारी बढ़ी तो लोग काम की तलाश में दूर-दूर तक जाने लगे। आखिरकार अमेरिकी बैंकिंग व्यवस्था भी धराशायी हो गई। निवेश से अपेक्षित लाभ न पा सकने, कर्ज वसूल न कर पाने और जमाकर्ताओं की जमा पूँजी न लौटा पाने के कारण हजारों बैंक दिवालिया हो गए और बंद कर दिए गए। इस परिघटना से जुड़े आँकड़े सकते में डाल देने वाले हैं : 1933 तक 4,000 से ज्यादा बैंक बंद हो चुके थे और 1929 से 1932 के बीच तकरीबन 1,10,000 कंपनियाँ चौपट हो चुकी थीं।

यद्यपि 1935 तक ज्यादातर औद्योगिक देशों में आर्थिक संकट से उबरने के संकेत दिखाई देने लगे थे लेकिन समाजों, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों और राजनीति तथा लोगों के दिलो-दिमाग पर उसकी जो छाप पड़ी वह जल्दी मिटने वाली नहीं थी।

3.5 भारत और महामंदी

यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि महामंदी से भारत पर क्या असर पड़ा तो इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि बीसवीं सदी की शुरुआत तक वैश्विक अर्थव्यवस्था कितनी एकीकृत हो चुकी थी। दुनिया के एक हिस्से में पैदा होने वाले संकट की कैपकैपाहट बाकी हिस्सों तक भी पहुँच जाती



चित्र 23 - बेरोजगारी लाभ के लिए क़तार में खड़े लोग, अमेरिका। डॉरोथी लेंग द्वारा लिया गया चित्र, 1938

सौजन्य : लायब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फ़ोटोग्राफ़्स डिविजन। जब एक बेरोजगारी जनगणना से पता चला कि देश में एक करोड़ से ज्यादा लोगों के पास कोई काम नहीं है तो अमेरिका के बहुत सारे राज्यों में स्थानीय प्रशासन की ओर से बेरोजगारों को छोटे-छोटे भत्ते दिए जाने लगे। ये लंबी क़तारें महामंदी के सालों में गरीबी और बेरोजगारी का प्रतीक थीं।

थी और उससे दुनिया भर में लोगों की ज़िंदगी, अर्थव्यवस्थाएँ और समाज प्रभावित हो उठते थे।

जैसा कि आप पीछे देख चुके हैं, औपनिवेशिक भारत कृषि वस्तुओं का निर्यातक और तैयार मालों का आयातक बन चुका था। महामंदी ने भारतीय व्यापार को फ़ौरन प्रभावित किया। 1928 से 1934 के बीच देश के आयात-निर्यात घट कर लगभग आधे रह गए थे। जब अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में कीमतें गिरने लगीं तो यहाँ भी कीमतें नीचे आ गईं। 1928 से 1934 के बीच भारत में गेहूँ की कीमत 50 प्रतिशत गिर गई।

शहरी निवासियों के मुक़ाबले किसानों और काशतकारों को ज़्यादा नुक़सान हुआ। यद्यपि कृषि उत्पादों की कीमत तेज़ी से नीचे गिरी लेकिन सरकार ने लगान वसूली में छूट देने से साफ़ इनकार कर दिया। सबसे बुरी मार उन काशतकारों पर पड़ी जो विश्व बाज़ार के लिए उपज पैदा करते थे।

बंगाल के जूट/पटसन उत्पादकों को ही देखिए। वे कच्चा पटसन उगाते थे जिससे कारख़ानों में टाट की बोरीयाँ बनाई जाती थीं। जब टाट का निर्यात बंद हो गया तो कच्चे पटसन की कीमतों में 60 प्रतिशत से भी ज़्यादा गिरावट आ गई। जिन काशतकारों ने दिन फिरने की उम्मीद में या बेहतर आमदनी के लिए उपज बढ़ाने के वास्ते क़र्ज़ ले लिए थे उनकी हालत भी उपज का सही मोल न मिलने के कारण ख़राब थी। वे दिनोंदिन और क़र्ज़ में डूबते जा रहे थे। इसी विपत्ति को ध्यान में रखकर बंगाल के एक कवि ने लिखा था –

चलो भाइयों, नक़द की उम्मीद में और ज़्यादा पटसन तुम उगाओ
लागत और क़र्ज़ में पिसकर नाउम्मीदी पाओ
सारी पूँजी लगा-फँसाकर फ़सल खड़ी कर जाओ
...घर पर बैठे बनिये देंगे पाँच रुपये मन भाव

पूरे देश में काशतकार पहले से भी ज़्यादा क़र्ज़ में डूब गए। खर्चे पूरे करने के चक्कर में उनकी बचत ख़त्म हो चुकी थी, ज़मीन सूदखोरों के पास गिरवी पड़ी थी, घर में जो भी गहने-जेवर थे बिक चुके थे। मंदी के इन्हीं सालों में भारत कीमती धातुओं, खासतौर से सोने का निर्यात करने लगा। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कोन्स का मानना था कि भारतीय सोने के निर्यात से भी वैश्विक अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने में काफ़ी मदद मिली। इस निर्यात ने ब्रिटेन की आर्थिक दशा सुधारने में तो निश्चय ही मदद दी लेकिन भारतीय किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। 1931 में मंदी अपने चरम पर थी और ग्रामीण भारत असंतोष व उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। उसी समय महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) आंदोलन शुरू किया।

यह मंदी शहरी भारत के लिए इतनी दुखदाई नहीं रही। कीमतें गिरते जाने के बावजूद शहरों में रहने वाले ऐसे लोगों की हालत ठीक रही जिनकी आय निश्चित थी। जैसे, शहर में रहने वाले ज़मींदार जिन्हें अपनी ज़मीन पर बँधा-बँधायी भाड़ा मिलता था, या मध्यवर्गीय वेतनभोगी कर्मचारी। राष्ट्रवादी खेमे के दबाव में उद्योगों की रक्षा के लिए सीमा शुल्क बढ़ा दिए गए थे जिससे औद्योगिक क्षेत्र में भी निवेश में तेज़ी आई।

चर्चा करें

पटसन (जूट) उगाने वालों के विलाप में पटसन की खेती से किसके मुनाफ़े का ज़िक्र आया है? स्पष्ट करें।

4 विश्व अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण : युद्धोत्तर काल

पहला विश्व युद्ध खत्म होने के केवल दो दशक बाद दूसरा विश्व युद्ध शुरू हो गया। यह युद्ध भी दो बड़े खेमों के बीच था। एक गुट में धुरी शक्तियाँ (मुख्य रूप से नात्सी जर्मनी, जापान और इटली) थीं तो दूसरा खेमा मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और अमेरिका) के नाम से जाना जाता था। छह साल तक चला यह युद्ध ज़मीन, हवा और पानी में असंख्य मोर्चों पर लड़ा गया।

इस युद्ध में मौत और तबाही की कोई हद बाकी नहीं बची थी। माना जाता है कि इस जंग के कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करीब 6 करोड़ लोग मारे गए। यह 1939 की वैश्विक जनसंख्या का लगभग 3 प्रतिशत था। करोड़ों लोग घायल हुए।

अब तक के युद्धों में मोर्चों पर मरने वालों की संख्या ज़्यादा होती थी। इस युद्ध में ऐसे लोग ज़्यादा मरे जो किसी मोर्चे पर लड़ नहीं रहे थे। यूरोप और एशिया के विशाल भूभाग तबाह हुए। कई शहर हवाई बमबारी या लगातार गोलाबारी के कारण मिट्टी में मिल गए। इस युद्ध ने बेहिसाब आर्थिक और सामाजिक तबाही को जन्म दिया। ऐसे हालात में पुनर्निर्माण का काम कठिन और लंबा साबित होने वाला था।

युद्धोत्तर काल में पुनर्निर्माण का काम दो बड़े प्रभावों के साये में आगे बढ़ा। पश्चिमी विश्व में अमेरिका आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से एक वर्चस्वशाली ताकत बन चुका था। दूसरी ओर सोवियत संघ भी एक वर्चस्वशाली शक्ति के रूप में सामने आया। नात्सी जर्मनी को हराने के लिए सोवियत संघ की जनता ने भारी कुर्बानियाँ दी थीं। जिस समय पूँजीवादी दुनिया महामंदी से जूझ रही थी उसी दौरान सोवियत संघ के लोगों ने अपने देश को एक पिछड़े खेतिहर देश की जगह एक विश्व शक्ति की हैसियत में ला खड़ा किया था।



चित्र 24 – रूस पर हमला करती जर्मन टुकड़ियाँ, जुलाई 1941 रूस पर हिटलर का हमला युद्ध में एक निर्णायक महत्व की घटना थी।



चित्र 25 – सोवियत रूस में युद्ध से तबाह स्तालिनग्राद।

4.1 युद्धोत्तर बंदोबस्त और ब्रेटन-वुड्स संस्थान

दो महायुद्धों के बीच मिले आर्थिक अनुभवों से अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने दो अहम सबक निकाले। पहला, बृहत उत्पादन पर आधारित किसी औद्योगिक समाज को व्यापक उपभोग के बिना क़ायम नहीं रखा जा सकता। लेकिन व्यापक उपभोग को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि आमदनी काफ़ी ज़्यादा और स्थिर हो। यदि रोज़गार अस्थिर होंगे तो आय स्थिर नहीं हो सकती थी। स्थिर आय के लिए पूर्ण रोज़गार भी ज़रूरी था।

लेकिन बाज़ार पूर्ण रोज़गार की गारंटी नहीं दे सकता। कीमत, उपज और रोज़गार में आने वाले उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करने के लिए सरकार का

दखल जरूरी था। आर्थिक स्थिरता केवल सरकारी हस्तक्षेप के जरिये ही सुनिश्चित की जा सकती थी।

दूसरा सबक बाहरी दुनिया के साथ आर्थिक संबंधों के बारे में था। पूर्ण रोजगार का लक्ष्य केवल तभी हासिल किया जा सकता है जब सरकार के पास वस्तुओं, पूँजी और श्रम की आवाजाही को नियंत्रित करने की ताकत उपलब्ध हो।

संक्षेप में, युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यह था कि औद्योगिक विश्व में आर्थिक स्थिरता एवं पूर्ण रोजगार बनाए रखा जाए। इस फ्रेमवर्क पर जुलाई 1944 में अमेरिका स्थित न्यू हैम्पशर के ब्रेटन वुड्स नामक स्थान पर संयुक्त राष्ट्र मौद्रिक एवं वित्तीय सम्मेलन में सहमति बनी थी।

सदस्य देशों के विदेश व्यापार में लाभ और घाटे से निपटने के लिए ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में ही अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) की स्थापना की गई। युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए पैसे का इंतजाम करने के वास्ते अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (जिसे आम बोलचाल में विश्व बैंक कहा जाता है) का गठन किया गया। इसी वजह से विश्व बैंक और आई.एम.एफ. को ब्रेटन वुड्स संस्थान या ब्रेटन वुड्स ट्विन (ब्रेटन वुड्स की जुड़वाँ संतान) भी कहा जाता है। इसी आधार पर युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को अकसर ब्रेटन वुड्स व्यवस्था भी कहा जाता है।

विश्व बैंक और आई.एम.एफ. ने 1947 में औपचारिक रूप से काम करना शुरू किया। इन संस्थानों की निर्णय प्रक्रिया पर पश्चिमी औद्योगिक देशों का नियंत्रण रहता है। अमेरिका विश्व बैंक और आई.एम.एफ. के किसी भी फ़ैसले को **वीटो** कर सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था राष्ट्रीय मुद्राओं और मौद्रिक व्यवस्थाओं को एक-दूसरे से जोड़ने वाली व्यवस्था है। ब्रेटन वुड्स व्यवस्था निश्चित विनिमय दरों पर आधारित होती थी। इस व्यवस्था में राष्ट्रीय मुद्राएँ, जैसे भारतीय मुद्रा- रुपया-डॉलर के साथ एक निश्चित विनिमय दर से बँधा हुआ था। एक डॉलर के बदले में कितने रुपये देने होंगे, यह स्थिर रहता था। डॉलर का मूल्य भी सोने से बँधा हुआ था। एक डॉलर की कीमत 35 औंस सोने के बराबर निर्धारित की गई थी।

4.2 प्रारंभिक युद्धोत्तर वर्ष

ब्रेटन वुड्स व्यवस्था ने पश्चिमी औद्योगिक राष्ट्रों और जापान के लिए व्यापार तथा आय में वृद्धि के एक अप्रतिम युग का सूत्रपात किया। 1950 से 1970 के बीच विश्व व्यापार की विकास दर सालाना 8 प्रतिशत से भी ज्यादा रही। इस दौरान वैश्विक आय में लगभग 5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही थी। विकास दर भी कमोबेश स्थिर ही थी। उसमें ज्यादा उतार-चढ़ाव नहीं आए। इस दौरान ज्यादातर समय अधिकांश औद्योगिक देशों में बेरोजगारी औसतन 5 प्रतिशत से भी कम ही रही। इन दशकों में तकनीक और उद्यम का विश्वव्यापी प्रसार हुआ। विकासशील देश विकसित औद्योगिक देशों के बराबर पहुँचने की जीतोड़



चित्र 26 – ब्रेटन वुड्स, अमेरिका स्थित माउंट वाशिंगटन होटल।
यही वह स्थान है जहाँ ब्रेटन वुड्स का ऐतिहासिक सम्मेलन आयोजित किया गया था।

नए शब्द

वीटो : निषेधाधिकार; इस अधिकार के सहारे एक ही सदस्य की असहमति किसी भी प्रस्ताव को खारिज करने का आधार बन जाती है।

चर्चा करें

संक्षेप में बताएँ कि दो महायुद्धों के बीच जो आर्थिक परिस्थितियाँ पैदा हुए उनसे अर्थशास्त्रियों और राजनेताओं ने क्या सबक सीखे?

कोशिश कर रहे थे। इसीलिए उन्होंने आधुनिक तकनीक से चलने वाले संयंत्रों और उपकरणों के आयात पर बेहिसाब पूँजी का निवेश किया।

4.3 अनौपनिवेशीकरण और स्वतंत्रता

दूसरा विश्व युद्ध खत्म होने के बाद भी दुनिया का एक बहुत बड़ा भाग यूरोपीय औपनिवेशिक शासन के अधीन था। अगले दो दशकों में एशिया और अफ्रीका के ज्यादातर उपनिवेश स्वतंत्र, स्वाधीन राष्ट्र बन चुके थे। लेकिन ये सभी देश गरीबी व संसाधनों की कमी से जूझ रहे थे। उनकी अर्थव्यवस्थाएँ और समाज लंबे समय तक चले औपनिवेशिक शासन के कारण अस्त-व्यस्त हो चुके थे।

आई.एम.एफ. और विश्व बैंक का गठन तो औद्योगिक देशों की जरूरतों को पूरा करने के लिए ही किया गया था। ये संस्थान भूतपूर्व उपनिवेशों में गरीबी की समस्या और विकास की कमी से निपटने में दक्ष नहीं थे। लेकिन जिस प्रकार यूरोप और जापान ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्गठन किया था उसके कारण ये देश आई.एम.एफ. और विश्व बैंक पर बहुत निर्भर भी नहीं थे। इसी कारण पचास के दशक के आखिरी सालों में आकर ब्रेटन वुड्स संस्थान विकासशील देशों पर भी पहले से ज्यादा ध्यान देने लगे।

दुनिया के अल्पविकसित भाग उपनिवेशों के रूप में पश्चिमी साम्राज्यों के अधीन रहे थे। विडंबना यह थी कि नवस्वाधीन राष्ट्रों के रूप में भी अपनी जनता को गरीबी और पिछड़ेपन की गर्त से बाहर निकालने के लिए उन्हें ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों की मदद लेनी पड़ी जिन पर भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों का ही वर्चस्व था।

अनौपनिवेशीकरण के बहुत साल बीत जाने के बाद भी बहुत सारे नवस्वाधीन राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं पर भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों का ही नियंत्रण बना हुआ था। जो देश ब्रिटेन और फ्रांस के उपनिवेश रह चुके थे या जहाँ कभी उनका राजनीतिक प्रभुत्व रह चुका वहाँ के महत्वपूर्ण संसाधनों, जैसे खनिज संपदा और ज़मीन पर अभी भी ब्रिटिश और फ्रांसीसी कंपनियों का ही नियंत्रण था और वे इस नियंत्रण को छोड़ने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार नहीं थीं।

कई बार अमेरिका जैसे अन्य शक्तिशाली देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी विकासशील देशों के प्राकृतिक संसाधनों का बहुत कम कीमत पर दोहन करने लगती थीं।

दूसरी ओर ज्यादातर विकासशील देशों को पचास और साठ के दशक में पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं की तेज प्रगति से कोई लाभ नहीं हुआ। इस समस्या को देखते हुए उन्होंने एक नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली (New International Economic Order-NIEO) के लिए आवाज़ उठाई और समूह 77 (जी-77) के रूप में संगठित हो गए। एन.आई.ई.ओ. से उनका आशय एक ऐसी व्यवस्था से था जिसमें उन्हें अपने संसाधनों पर सही मायनों में नियंत्रण मिल सके, जिसमें उन्हें विकास के लिए अधिक सहायता मिले, कच्चे माल के सही दाम मिलें, और अपने तैयार मालों को विकसित देशों के बाजारों में बेचने के लिए बेहतर पहुँच मिले।

बॉक्स 4

एक साथ बहुत सारे देशों में व्यवसाय करने वाली कंपनियों को बहुराष्ट्रीय निगम (मल्टीनेशनल कॉर्पोरेशन-एमएनसी) या बहुराष्ट्रीय कंपनी कहा जाता है। शुरुआती बहुराष्ट्रीय कंपनियों की स्थापना 1920 के दशक में की गई थी। पचास व साठ के दशक में जब अमेरिकी व्यवसाय दुनिया भर में फैलते जा रहे थे और पश्चिमी यूरोप एवं जापान भी विश्वयुद्ध के प्रभाव से बाहर निकलते हुए शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र बनने की ओर अग्रसर थे उस समय ऐसी बहुत सारी नयी कंपनियाँ सामने आईं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विश्वव्यापी प्रसार पचास और साठ के दशक की एक विशेषता था। इसके पीछे आंशिक रूप से इस बात का भी हाथ था कि ज्यादातर सरकारें बाहर से आने वाली चीजों पर भारी **आयात शुल्क** वसूल करती थीं जिसके कारण बड़ी कंपनियों को अपने संयंत्र उन्हीं देशों में लगाने पड़ते थे जहाँ वे अपने उत्पाद बेचना चाहती थीं। उन्हें 'घरेलू उत्पादकों' के रूप में काम करना पड़ता था।

नए शब्द

आयात शुल्क (Tariff) : किसी दूसरे देश से आने वाली चीजों पर वसूल किया जाने वाला शुल्क। यह कर या शुल्क उस जगह लिया जाता है जहाँ से वह चीज देश में आती है, यानी सीमा पर, बंदरगाह पर या हवाई अड्डे पर।

4.4 ब्रेटन वुड्स का समापन और 'वैश्वीकरण' की शुरुआत

सालों की स्थिर और तेज वृद्धि के बावजूद युद्धोत्तर दुनिया में सब कुछ सही नहीं चल रहा था। साठ के दशक से ही विदेशों में अपनी गतिविधियों की भारी लागत ने अमेरिका की वित्तीय और प्रतिस्पर्धी क्षमता को कमजोर कर दिया था। अमेरिकी डॉलर अब दुनिया की प्रधान मुद्रा के रूप में पहले जितना सम्मानित और निर्विवाद नहीं रह गया था। सोने की तुलना में डॉलर की कीमत गिरने लगी थी। अंततः स्थिर विनिमय दर की व्यवस्था विफल हो गई और प्रवाहमयी या अस्थिर विनिमय दर की व्यवस्था शुरू की गई।

सत्तर के दशक के मध्य से अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों में भी भारी बदलाव आ चुके थे। अब तक विकासशील देश ऋण और विकास संबंधी सहायता के लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों की शरण ले सकते थे लेकिन अब उन्हें पश्चिम के व्यावसायिक बैंकों और निजी ऋणदाता संस्थानों से ऋण न लेने के लिए बाध्य किया जाने लगा। विकासशील विश्व में समय-समय पर ऋण संकट पैदा होने लगा जिसके कारण आय में गिरावट आती थी और गरीबी बढ़ने लगती थी। अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में यह समस्या सबसे ज्यादा दिखाई दी।

औद्योगिक विश्व भी बेरोजगारी की समस्या में फँसने लगा था। सत्तर के दशक के मध्य से बेरोजगारी बढ़ने लगी। नब्बे के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक वहाँ काफी बेरोजगारी रही। सत्तर के दशक के आखिर सालों से बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी एशिया के ऐसे देशों में उत्पादन केंद्रित करने लगीं जहाँ वेतन कम थे।

चीन 1949 की क्रांति के बाद विश्व अर्थव्यवस्था से अलग-थलग ही था। परंतु चीन में नयी आर्थिक नीतियों और सोवियत खेमे के बिखराव तथा पूर्वी यूरोप में सोवियत शैली की व्यवस्था समाप्त हो जाने के पश्चात बहुत सारे देश दोबारा विश्व अर्थव्यवस्था का अंग बन गए।

चीन जैसे देशों में वेतन तुलनात्मक रूप से कम थे। फलस्वरूप विश्व बाजारों पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए प्रतिस्पर्धा कर रही विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने वहाँ जमकर निवेश करना शुरू कर दिया। क्या आपने इस बात पर ध्यान दिया है कि हमारे ज्यादातर टेलीविज़न, मोबाइल फ़ोन और खिलौने चीन में बने होते हैं या वहाँ के जैसे ही लगते हैं? यह चीनी अर्थव्यवस्था की अल्प लागत अर्थव्यवस्था और खास तौर से वहाँ के कम वेतनों का नतीजा है।

उद्योगों को कम वेतन वाले देशों में ले जाने से वैश्विक व्यापार और पूँजी प्रवाहों पर भी असर पड़ा। पिछले दो दशक में भारत, चीन और ब्राज़ील आदि देशों की अर्थव्यवस्थाओं में आए भारी बदलावों के कारण दुनिया का आर्थिक भूगोल पूरी तरह बदल चुका है।

नए शब्द

विनिमय दर : इस व्यवस्था के जरिये अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए विभिन्न देशों की राष्ट्रीय मुद्राओं को एक-दूसरे से जोड़ा जाता है। मोटे तौर पर विनिमय दर दो प्रकार की होती हैं : **स्थिर विनिमय दर** और **परिवर्तनशील विनिमय दर**।

स्थिर विनिमय दर : जब विनिमय दर स्थिर होती हैं और उनमें आने वाले उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करने के लिए सरकारों को हस्तक्षेप करना पड़ता है तो ऐसी विनिमय दर को स्थिर विनिमय दर कहा जाता है।

लचीली या परिवर्तनशील विनिमय दर : इस तरह की विनिमय दर विदेशी मुद्रा बाजार में विभिन्न मुद्राओं की माँग या आपूर्ति के आधार पर और सिद्धांततः सरकारों के हस्तक्षेप के बिना घटती-बढ़ती रहती है।

संक्षेप में लिखें

1. सत्रहवीं सदी से पहले होने वाले आदान-प्रदान के दो उदाहरण दीजिए। एक उदाहरण एशिया से और एक उदाहरण अमेरिका महाद्वीपों के बारे में चुने।
2. बताएँ कि पूर्व-आधुनिक विश्व में बीमारियों के वैश्विक प्रसार ने अमेरिकी भूभागों के उपनिवेशीकरण में किस प्रकार मदद दी।
3. निम्नलिखित के प्रभावों की व्याख्या करते हुए संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें:
 - (क) कॉर्न लॉ के समाप्त करने के बारे में ब्रिटिश सरकार का फैसला।
 - (ख) अफ्रीका में रैंडरेपेस्ट का आना।
 - (ग) विश्वयुद्ध के कारण यूरोप में कामकाजी उम्र के पुरुषों की मौत।
 - (घ) भारतीय अर्थव्यवस्था पर महामंदी का प्रभाव।
 - (ङ) बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपने उत्पादन को एशियाई देशों में स्थानांतरित करने का फैसला।
4. खाद्य उपलब्धता पर तकनीक के प्रभाव को दर्शाने के लिए इतिहास से दो उदाहरण दें।
5. ब्रेटन वुड्स समझौते का क्या अर्थ है।

संक्षेप में लिखें

चर्चा करें

6. कल्पना कीजिए कि आप कैरीबियाई क्षेत्र में काम करने वाले गिरमिटिया मजदूर हैं। इस अध्याय में दिए गए विवरणों के आधार पर अपने हालात और अपनी भावनाओं का वर्णन करते हुए अपने परिवार के नाम एक पत्र लिखें।
7. अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विनियमों में तीन तरह की गतियों या प्रवाहों की व्याख्या करें। तीनों प्रकार की गतियों के भारत और भारतीयों से संबंधित एक-एक उदाहरण दें और उनके बारे में संक्षेप में लिखें।
8. महामंदी के कारणों की व्याख्या करें।
9. जी-77 देशों से आप क्या समझते हैं। जी-77 को किस आधार पर ब्रेटन वुड्स की जुड़वाँ संतानों की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। व्याख्या करें।

चर्चा करें

परियोजना कार्य

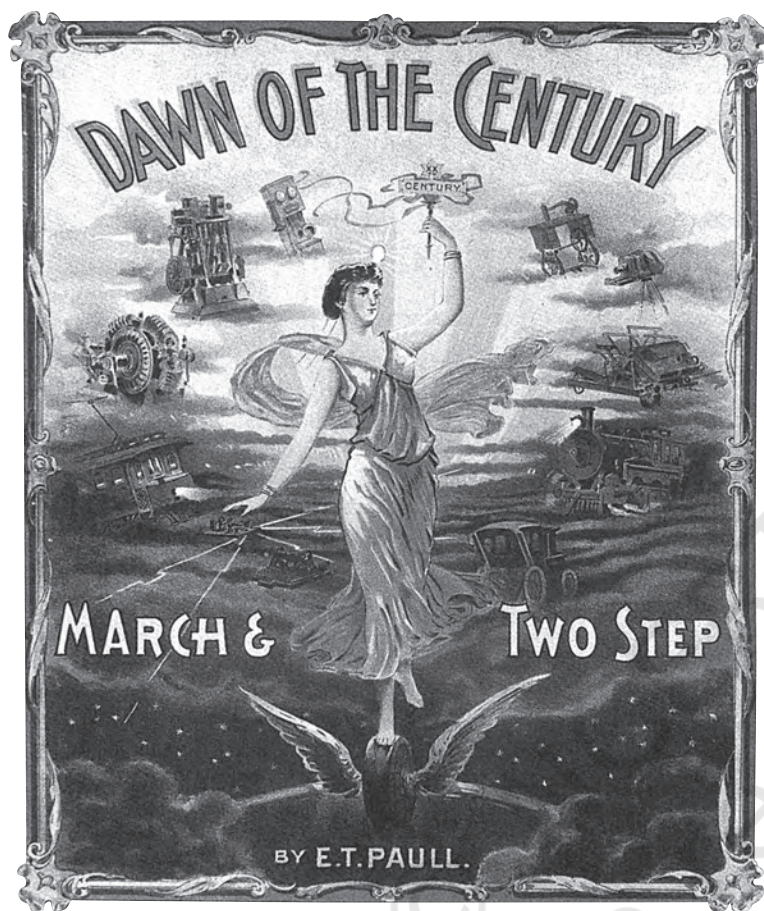
उन्नीसवीं सदी के दौरान दक्षिण अफ्रीका में स्वर्ण हीरा खनन के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठी करें। सोना और हीरा कंपनियों पर किसका नियंत्रण था? खनिक कौन लोग थे और उनका जीवन कैसा था?

परियोजना कार्य

औद्योगीकरण का युग



1067CH04



चित्र 1 - डॉन ऑफ द सेंचुरी, ई.टी. पॉल म्यूज़िक कंपनी, न्यूयॉर्क (अमेरिका) एवं इंग्लैंड, 1900

ई.टी. पॉल म्यूज़िक कंपनी ने सन् 1900 में संगीत की एक किताब प्रकाशित की थी जिसकी जिल्द पर दी गई तसवीर में 'नयी सदी के उदय' (डॉन ऑफ़ द सेंचुरी) (चित्र 1) का ऐलान किया था। जैसा कि आप इस चित्र में देख सकते हैं, तसवीर के मध्य में एक देवी जैसी तसवीर है। यह देवी हाथ में नयी शताब्दी की ध्वजा लिए प्रगति का फ़रिश्ता दिखाई देती है। उसका एक पाँव पंखों वाले पहिये पर टिका हुआ है। यह पहिया समय का प्रतीक है। उसकी उड़ान भविष्य की ओर है। उसके पीछे उन्नति के चिह्न तैर रहे हैं : रेलवे, कैमरा, मशीनें, प्रिंटिंग प्रेस और कारख़ाना।

मशीन और तकनीक का यह महिमामंडन एक अन्य तसवीर में और भी ज़्यादा साफ़ दिखाई देता है। यह तसवीर एक व्यापारिक पत्रिका के पन्नों पर सौ साल से भी पहले छपी थी (चित्र 2)। इस तसवीर में दो जादूगर दिखाए गए हैं। ऊपर वाले हिस्से में **प्राच्य** (Orient) इलाक़े का अलादीन है जिसने अपने जादुई चिराग को रगड़ कर एक भव्य महल का निर्माण कर दिया है। नीचे

नए शब्द

प्राच्य : भूमध्य सागर के पूर्व में स्थित देश। आमतौर पर यह शब्द एशिया के लिए इस्तेमाल किया जाता है। पश्चिमी नज़रिये में प्राच्य इलाक़े पूर्व-आधुनिक, पारंपरिक और रहस्यमय थे।

एक आधुनिक मेकैनिक है जो अपने आधुनिक औजारों से एक नया जादू रच रहा है। वह पुल, पानी के जहाज़, मीनार और गगनचुंबी इमारतें बनाता है। अलादीन पूरब और अतीत का प्रतीक है; मेकैनिक पश्चिम और आधुनिकता का।

ये तस्वीरें आधुनिक विश्व की विजयगाथा कहती हैं। इस गाथा में आधुनिक विश्व द्रुत तकनीकी बदलावों व आविष्कारों, मशीनों व कारखानों, रेलवे और वाष्पपोतों की दुनिया के रूप में दर्शाया गया है। इसमें औद्योगीकरण का इतिहास विकास की कहानी के रूप में सामने आता है और आधुनिक युग तकनीकी प्रगति के भव्य युग के रूप में उभरता है।

अब ये छवियाँ और ये संबंध लोकमानस का हिस्सा बन चुके हैं। क्या आप भी तेज़ औद्योगीकरण को प्रगति व आधुनिकता के काल के रूप में नहीं देखते? क्या आपको नहीं लगता कि रेलवे और फैक्ट्रियों का निर्माण, गगनचुंबी इमारतों व पुलों का विस्तार समाज के विकास का द्योतक होता है?

ये छवियाँ किस प्रकार विकसित हुई हैं? इन विचारों से हमारा क्या संबंध है? क्या औद्योगीकरण के लिए तीव्र तकनीकी विकास हमेशा जरूरी होता है? क्या आज भी हम तमाम तरह के कामों के दिनोंदिन बढ़ते मशीनीकरण का गुणगान कर सकते हैं? औद्योगीकरण से लोगों की ज़िंदगी पर क्या असर पड़ा है? ऐसे सवालों का जवाब देने के लिए हमें औद्योगीकरण के इतिहास को समझना पड़ेगा।

इस अध्याय में हम यही इतिहास पढ़ेंगे। यहाँ हम दुनिया के पहले औद्योगिक राष्ट्र-ब्रिटेन और उसके बाद भारत में औद्योगीकरण का अध्ययन करेंगे जहाँ औद्योगिक बदलावों का पैटर्न औपनिवेशिक शासन से तय हो रहा था।



चित्र 2 - दो जादूगर, इनलैंड प्रिंटर्स में प्रकाशित, 26 जनवरी 1901

गतिविधि

दो ऐसे उदाहरण दीजिए जहाँ आधुनिक विकास से प्रगति की बजाय समस्याएँ पैदा हुई हैं। आप चाहें तो पर्यावरण, आणविक हथियारों व बीमारियों से संबंधित क्षेत्रों पर विचार कर सकते हैं।

1 औद्योगिक क्रांति से पहले

औद्योगीकरण को अकसर हम कारखानों के विकास के साथ ही जोड़कर देखते हैं। जब हम औद्योगिक उत्पादन की बात करते हैं तो हमारा आशय फैक्ट्रियों में होने वाले उत्पादन से होता है। और जब हम औद्योगिक मजदूरों की बात करते हैं, तो भी हमारा आशय कारखानों में काम करने वाले मजदूरों से ही होता है। औद्योगीकरण के इतिहास अकसर प्रारंभिक फैक्ट्रियों की स्थापना से शुरू होते हैं।

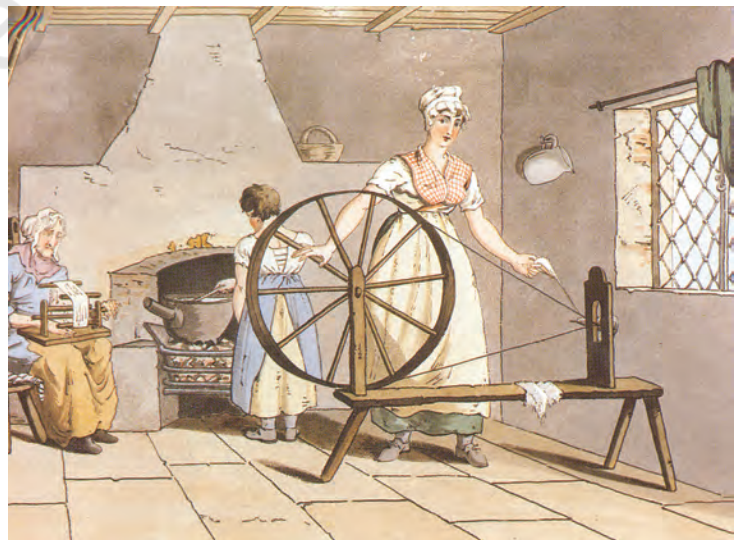
पर इस सोच में एक समस्या है। दरअसल, इंग्लैंड और यूरोप में फैक्ट्रियों की स्थापना से भी पहले ही अंतर्राष्ट्रीय बाजार के लिए बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन होने लगा था। यह उत्पादन फैक्ट्रियों में नहीं होता था। बहुत सारे इतिहासकार औद्योगीकरण के इस चरण को **आदि-औद्योगीकरण** (proto-industrialisation) का नाम देते हैं।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय शहरों के सौदागर गाँवों की तरफ रुख करने लगे थे। वे किसानों और कारीगरों को पैसा देते थे और उनसे अंतर्राष्ट्रीय बाजार के लिए उत्पादन करवाते थे। उस समय विश्व व्यापार के विस्तार और दुनिया के विभिन्न भागों में उपनिवेशों की स्थापना के कारण चीजों की माँग बढ़ने लगी थी। इस माँग को पूरा करने के लिए केवल शहरों में रहते हुए उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता था। वजह यह थी कि शहरों में शहरी दस्तकारी और व्यापारिक गिल्ड्स काफ़ी ताकतवर थे। ये गिल्ड्स उत्पादकों के संगठन होते थे। गिल्ड्स से जुड़े उत्पादक कारीगरों को प्रशिक्षण देते थे, उत्पादकों पर नियंत्रण रखते थे, प्रतिस्पर्धा और मूल्य तय करते थे तथा व्यवसाय में नए लोगों को आने से रोकते थे। शासकों ने भी विभिन्न गिल्ड्स को खास उत्पादों के उत्पादन और व्यापार का एकाधिकार दिया हुआ था। फलस्वरूप, नए व्यापारी शहरों में कारोबार नहीं कर सकते थे। इसलिए वे गाँवों की तरफ जाने लगे।

गाँवों में गरीब काश्तकार और दस्तकार सौदागरों के लिए काम करने लगे। जैसा कि आपने पिछले साल की पाठ्यपुस्तक में देखा है, यह एक ऐसा समय था जब खुले खेत खत्म होते जा रहे थे और कॉमन्स की बाढ़ाबंदी की जा रही थी। अब तक अपनी रोज़ी-रोटी के लिए साझा ज़मीनों से जलावन की लकड़ी, बेरियाँ, सब्ज़ियाँ, भूसा और चारा आदि बीन कर काम चलाने वाले छोटे किसान (काँटेज़र) और गरीब किसान आमदनी के नए स्रोत ढूँढ़ रहे थे। बहुतों के पास छोटे-मोटे खेत तो थे लेकिन उनसे घर के सारे लोगों का पेट नहीं भर सकता था। इसीलिए, जब सौदागर वहाँ आए और उन्होंने माल पैदा करने के लिए पेशगी रक़म दी तो किसान फ़ौरन तैयार हो गए। सौदागरों के लिए काम करते हुए वे गाँव में ही रहते हुए अपने छोटे-छोटे खेतों को भी सँभाल सकते थे।

नए शब्द

आदि : किसी चीज़ की पहली या प्रारंभिक अवस्था का संकेत।



चित्र 3 - अठारहवीं सदी में कताई।

आप देख सकते हैं कि परिवार के सभी सदस्य धागा बनाने के काम में लगे हैं। ध्यान से देखिए कि एक चरखे पर केवल एक ही तकली बन रही है।

इस आदि-औद्योगिक उत्पादन से होने वाली आमदनी ने खेती के कारण सिमटती आय में बड़ा सहारा दिया। अब उन्हें पूरे परिवार के श्रम संसाधनों के इस्तेमाल का मौका भी मिल गया।

इस व्यवस्था से शहरों और गाँवों के बीच एक घनिष्ठ संबंध विकसित हुआ। सौदागर रहते तो शहरों में थे लेकिन उनके लिए काम ज्यादातर देहात में चलता था। इंग्लैंड के कपड़ा व्यवसायी **स्टेप्लर्स** (Staplers) से ऊन खरीदते थे और उसे सूत कातने वालों के पास पहुँचा देते थे। इससे जो धागा मिलता था उसे बुनकरों, **फुलर्स** (Fullers), और रंगसाजों के पास ले जाया जाता था। लंदन में कपड़ों की फिनिशिंग होती थी। इसके बाद निर्यातक व्यापारी कपड़े को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बेच देते थे। इसीलिए लंदन को तो फिनिशिंग सेंटर के रूप में ही जाना जाने लगा था।

यह आदि-औद्योगिक व्यवस्था व्यवसायिक आदान-प्रदान के नेटवर्क का हिस्सा थी। इस पर सौदागरों का नियंत्रण था और चीजों का उत्पादन कारखानों की बजाय घरों में होता था। उत्पादन के प्रत्येक चरण में प्रत्येक सौदागर 20-25 मजदूरों से काम करवाता था। इसका मतलब यह था कि कपड़ों के हर सौदागर के पास सैकड़ों मजदूर काम करते थे।

1.1 कारखानों का उदय

इंग्लैंड में सबसे पहले 1730 के दशक में कारखाने खुले लेकिन उनकी संख्या में तेजी से इजाफ़ा अठारहवीं सदी के आखिर में ही हुआ।

कपास (कॉटन) नए युग का पहला प्रतीक थी। उन्नीसवीं सदी के आखिर में कपास के उत्पादन में भारी बढ़ोतरी हुई। 1760 में ब्रिटेन अपने कपास उद्योग की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए 25 लाख पौंड कच्चे कपास का आयात करता था 1787 में यह आयात बढ़कर 220 लाख पौंड तक पहुँच गया। यह इजाफ़ा उत्पादन की प्रक्रिया में बहुत सारे बदलावों का परिणाम था। आइए देखें कि ये बदलाव कौन से थे।

अठारहवीं सदी में कई ऐसे आविष्कार हुए जिन्होंने उत्पादन प्रक्रिया (कार्डिंग, ऐंठना व कटाई, और लपेटने) के हर चरण की कुशलता बढ़ा दी। प्रति मजदूर उत्पादन बढ़ गया और पहले से ज्यादा मजबूत धागों व रेशों का उत्पादन होने लगा। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट ने सूती कपड़ा मिल की रूपरेखा सामने रखी। अभी तक कपड़ा उत्पादन पूरे देहात में फैला हुआ था। यह काम लोग अपने-अपने घर पर ही करते थे। लेकिन अब मँहगी नयी मशीनें खरीदकर उन्हें कारखानों में लगाया जा सकता था। कारखाने में सारी प्रक्रियाएँ एक छत के नीचे और एक मालिक के हाथों में आ गई थीं। इसके चलते उत्पादन प्रक्रिया पर निगरानी, गुणवत्ता का ध्यान रखना और मजदूरों पर नज़र रखना संभव हो गया था। जब तक उत्पादन गाँवों में हो रहा था तब तक ये सारे काम संभव नहीं थे।

नए शब्द

स्टेपलर : ऐसा व्यक्ति जो रेशों के हिसाब से ऊन को 'स्टेपल' करता है या छाँटता है।

फुलर : ऐसा व्यक्ति जो 'फुल' करता है यानी चुन्नटों के सहारे कपड़े को समेटता है।

कार्डिंग : वह प्रक्रिया जिसमें कपास या ऊन आदि रेशों को कटाई के लिए तैयार किया जाता है।



चित्र 4 - लंकाशायर की एक कॉटन मिल, सी.ई. टर्नर द्वारा बनाया चित्र, दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1925
कलाकार ने कहा : 'अगर उस नम मौसम की नज़र से देखें जिसके कारण लंकाशायर दुनिया में सूत कटाई के लिए सबसे आदर्श स्थान बनता है तो शाम के धुँधलके में दमकता कॉटन मिल सबसे शानदार नज़ारा दिखाई देता है।'

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में कारखाने इंग्लैंड के भूदृश्य का अभिन्न अंग बन गए थे। ये नए कारखाने इतने विशाल, और नयी प्रौद्योगिकी की ताकत इतनी जादुई दिखाई देती थी कि उस समय के लोगों की आँखें चौंधिया जाती थीं। लोगों का ध्यान कारखानों पर टिका रह जाता था। वे इस बात को मानो भूल ही जाते थे कि उनकी आँखों से ओझल गलियों और वर्कशॉप्स में अभी भी उत्पादन चालू है।

1.2 औद्योगिक परिवर्तन की रफ्तार

औद्योगीकरण की प्रक्रिया कितनी तेज़ थी? क्या औद्योगीकरण का मतलब केवल फैक्ट्री उद्योगों के विकास तक ही सीमित होता है?



चित्र 5 - औद्योगिक मैनचेस्टर, एम. जैक्सन का चित्र, द इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1857
धुआँ छोड़ती चिमनियाँ औद्योगिक इलाकों की पहचान बन गई थीं।

पहला : सूती उद्योग और कपास उद्योग ब्रिटेन के सबसे फलते-फूलते उद्योग थे। तेज़ी से बढ़ता हुआ कपास उद्योग 1840 के दशक तक औद्योगीकरण के पहले चरण में सबसे बड़ा उद्योग बन चुका था। इसके बाद लोहा और स्टील उद्योग आगे निकल गए। 1840 के दशक से इंग्लैंड में और 1860 के दशक से उसके उपनिवेशों में रेलवे का विस्तार होने लगा था। फलस्वरूप लोहे और स्टील की ज़रूरत तेज़ी से बढ़ी। 1873 तक ब्रिटेन के लोहा और स्टील निर्यात का मूल्य लगभग 7.7 करोड़ पाँड हो गया था। यह राशि इंग्लैंड के कपास निर्यात के मूल्य से दोगुनी थी।

दूसरा : नए उद्योग परंपरागत उद्योगों को इतनी आसानी से हाशिए पर नहीं ढकेल सकते थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में भी तकनीकी रूप से विकसित औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों की संख्या कुल मजदूरों में 20

गतिविधि

जिस तरह इतिहासकार छोटी वर्कशॉप की बजाय औद्योगीकरण पर ध्यान केंद्रित करते हैं यह इस बात का एक बढ़िया उदाहरण है कि आज हम अतीत के बारे में जो विश्वास लिए हुए हैं वे इस बात से तय होते हैं कि इतिहासकार भी सिर्फ कुछ चीज़ों पर ध्यान देते हैं और कुछ को नज़रअंदाज़ कर देते हैं। अपने जीवन की किसी एक ऐसी घटना या पहलू को लिखें जिसे आपके माता-पिता या शिक्षक आदि वयस्क लोग महत्वपूर्ण नहीं मानते लेकिन आपको वह महत्वपूर्ण लगती है।

गतिविधि

चित्र 4 और 5 को देखें। क्या आपको दोनों तस्वीरों में औद्योगीकरण को दर्शाने के ढंग में कोई फ़र्क दिखाई देता है? अपना दृष्टिकोण संक्षेप में व्यक्त करें।

प्रतिशत से ज्यादा नहीं थी। कपड़ा उद्योग एक गतिशील उद्योग था लेकिन उसके उत्पादन का बड़ा हिस्सा कारखानों में नहीं बल्कि घरेलू इकाइयों में होता था।

तीसरा : यद्यपि 'परंपरागत' उद्योगों में परिवर्तन की गति भाप से चलने वाले सूती और धातु उद्योगों से तय नहीं हो रही थी लेकिन ये परंपरागत उद्योग पूरी तरह ठहराव की अवस्था में भी नहीं थे। खाद्य प्रसंस्करण, निर्माण, पॉटरी, काँच के काम, चर्मशोधन, फर्नीचर और औजारों के उत्पादन जैसे बहुत सारे गैर-मशीनी क्षेत्रों में जो तरक्की हो रही थी वह मुख्य रूप से साधारण और छोटे-छोटे आविष्कारों का ही परिणाम थी।

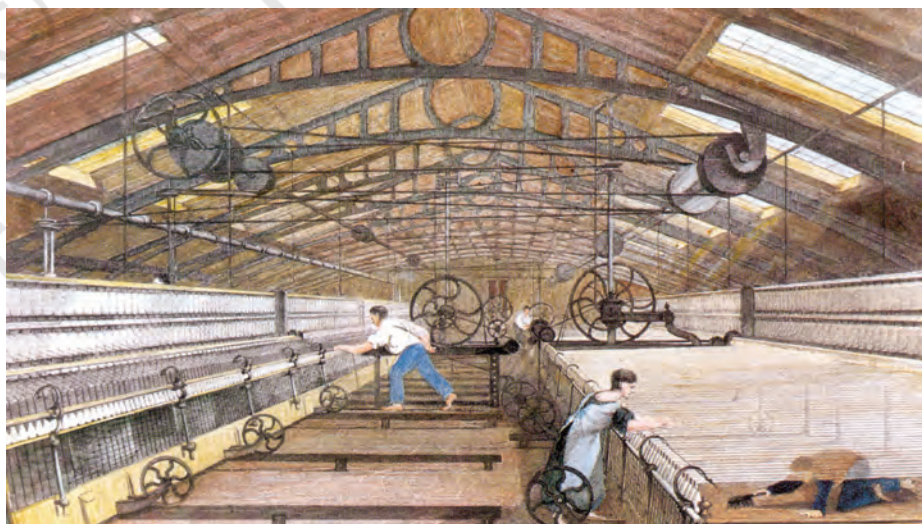
चौथा : प्रौद्योगिकीय बदलावों की गति धीमी थी। औद्योगिक भूदृश्य पर ये बदलाव नाटकीय तेजी से नहीं फैले। नयी तकनीक मँहगी थी। सौदागर व व्यापारी उनके इस्तेमाल के सवाल पर फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाते थे। मशीनें अक्सर खराब हो जाती थीं और उनकी मरम्मत पर काफ़ी खर्चा आता था। वे उतनी अच्छी भी नहीं थीं जितना उनके आविष्कारकों और निर्माताओं का दावा था।

इस बात को समझने के लिए आइए भाप के इंजन का उदाहरण लें। जेम्स वॉट ने न्यूकॉमेन द्वारा बनाए गए भाप के इंजन में सुधार किए और 1871 में नए इंजन को पेटेंट करा लिया। इस मॉडल का उत्पादन उनके दोस्त उद्योगपति मैथ्यू बूल्टन ने किया। पर, सालों तक उन्हें कोई खरीदार नहीं मिला। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक पूरे इंग्लैंड में भाप के सिर्फ 321 इंजन थे। इनमें से 80 इंजन सूती उद्योगों में, 9 ऊन उद्योगों में और बाकी खनन, नहर निर्माण और लौह कार्यों में इस्तेमाल हो रहे थे। और किसी उद्योग में भाप के इंजनों का इस्तेमाल काफ़ी समय बाद तक भी नहीं हुआ। यानी मज़दूरों की उत्पादन क्षमता को कई गुना बढ़ाने की संभावना वाली सबसे शक्तिशाली प्रौद्योगिकी को अपनाने में भी उद्योगपति बहुत हिचकिचा रहे थे।

अब इतिहासकार इस बात को मानने लगे हैं कि उन्नीसवीं सदी के मध्य का औसत मज़दूर मशीनों पर काम करने वाला नहीं बल्कि परंपरागत कारीगर और मज़दूर ही होता था।



चित्र 6 - इंग्लैंड में एक रेलवे कारखाने में फिटिंग शॉप, दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1849
इस फिटिंग शॉप में नए लोकोमोटिव इंजन बनाए जाते थे और पुरानों की मरम्मत की जाती थी।



चित्र 7 - 1830 की एक कताई फैक्ट्री।

आप देख सकते हैं कि किस तरह भाप की ताकत से चलने वाले विशालकाय पहिये एक साथ सैकड़ों तकलियों को घुमाने लगते थे।

2 हाथ का श्रम और वाष्प शक्ति

विक्टोरिया कालीन ब्रिटेन में मानव श्रम की कोई कमी नहीं थी। ग़रीब किसान और बेकार लोग कामकाज की तलाश में बड़ी संख्या में शहरों को जाते थे। जैसा कि आप आगे जानेंगे, जब श्रमिकों की बहुतायत होती है तो वेतन गिर जाते हैं। इसीलिए, उद्योगपतियों को श्रमिकों की कमी या वेतन के मद में भारी लागत जैसी कोई परेशानी नहीं थी। उन्हें ऐसी मशीनों में कोई दिलचस्पी नहीं थी जिनके कारण मज़दूरों से छुटकारा मिल जाए और जिन पर बहुत ज़्यादा खर्चा आने वाला हो।

बहुत सारे उद्योगों में श्रमिकों की माँग मौसमी आधार पर घटती-बढ़ती रहती थी। गैसघरों और शराबखानों में जाड़ों के दौरान खासा काम रहता था। इस दौरान उन्हें ज़्यादा मज़दूरों की ज़रूरत होती थी। क्रिसमस के समय बुक बाइंडरों और प्रिंटरों को भी दिसंबर से पहले अतिरिक्त मज़दूरों की दरकार रहती थी। बंदरगाहों पर जहाज़ों की मरम्मत और साफ़-सफ़ाई व सजावट का काम भी जाड़ों में ही किया जाता था। जिन उद्योगों में मौसम के साथ उत्पादन



चित्र 8 - काम की तलाश में निकले लोग, दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1879
कुछ लोग छोटी-मोटी चीज़ें बेचते और अस्थायी काम तलाशते हुए हमेशा एक जगह से दूसरी जगह भटकते रहते थे।

घटता-बढ़ता रहता था वहाँ उद्योगपति मशीनों की बजाय मज़दूरों को ही काम पर रखना पसंद करते थे।

बहुत सारे उत्पाद केवल हाथ से ही तैयार किए जा सकते थे। मशीनों से एक जैसे तय किस्म के उत्पाद ही बड़ी संख्या में बनाए जा सकते थे। लेकिन

स्रोत-क

विल थॉर्न मौसमी काम की तलाश में निकलने वाले मज़दूरों में से एक थे। उन्होंने ईंटें ढोई और अन्य छोटे-मोटे काम किए। वह बताते हैं कि नौकरी के इच्छुक किस तरह पैदल लंदन जाते थे –

‘मैं हमेशा लंदन जाना चाहता था। मेरी इच्छा हमेशा एक पुराने दोस्त के खतों को पढ़कर और मज़बूत हो जाती थी... वह ओल्ड केंट रोड गैस वर्क्स में काम करता है... आखिरकार मैंने जाने का मन बना लिया... नवंबर 1881 में। दो दोस्तों के साथ मैं सफ़र पर निकल पड़ा। हम इस आशा से भरे हुए थे कि वहाँ पहुँचते ही अपने दोस्त की मदद से हमें रोज़गार मिल जाएगा। .. जब हम निकले तो हमारे पास खास कोई पैसा नहीं था। लंदन तक के रास्ते के लिए खाने और रात को ठहरने का पैसा भी नहीं था। कई दिन हम 20 मील और कई बार उससे कम पैदल चलते थे... तीसरे दिन हमारे पैसे खत्म हो गए... दो रातें हमने बाहर ही सोते हुए गुज़ारीं... एक बार भूसे के ढेर तले और एक बार खेत में बने एक शेड में... लंदन पहुँचने पर मैंने अपने दोस्त को ढूँढ़ने का प्रयास किया... लेकिन नाकामयाब रहे। पैसा तो जा ही चुका था। इसलिए अब हमारे पास देर रात तक यहाँ-वहाँ भटकते रहने के अलावा और कोई चारा नहीं था। शाम को हम सोने का कोई ठिकाना ढूँढ़ते थे। हमने एक पुरानी इमारत ढूँढ़ी और एक रात उसी में बिताई। अगले दिन इतवार था। दोपहर बाद हम ओल्ड केंट गैस वर्क्स पहुँचे। वहाँ हमने काम के लिए अर्जी दे दी। यह देखकर मेरे अचरज की सीमा न रही कि हम जिसे ढूँढ़ रहे थे वह वहीं काम कर रहा था। उसने फ़ोरमैन से बात की और मुझे नौकरी पर रख लिया गया।’

एच.जे. ड्योस एवं माइकल वुल्फ (सं.) द विक्टोरियन सिटी : इमेजेज़ एंड रियलिटीज़, 1973 में रेफ़ेल सेमुअल के लेख ‘कमर्स एंड गोअर्स’ में उद्धृत।

स्रोत

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप सौदागर हैं और एक ऐसे सेल्समैन को चिट्ठी लिख रहे हैं जो आपको नयी मशीन खरीदने के लिए राज़ी करने की कोशिश कर रहा है। अपने पत्र में बताइए कि मशीन के बारे में आपने क्या सुना है और आप नयी प्रौद्योगिकी में पैसा क्यों नहीं लगाना चाहते।

बाज़ार में अकसर बारीक डिज़ाइन और खास आकारों वाली चीज़ों की काफ़ी माँग रहती थी। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में उन्नीसवीं सदी के मध्य में 500 तरह के हथौड़े और 45 तरह की कुल्हाड़ियाँ बनाई जा रही थीं। इन्हें बनाने के लिए यांत्रिक प्रौद्योगिकी की नहीं बल्कि इनसानी निपुणता की ज़रूरत थी।

विक्टोरिया कालीन ब्रिटेन में उच्च वर्ग के लोग-कुलीन और पूँजीपति वर्ग-हाथों से बनी चीज़ों को तरज़ीह देते थे। हाथ से बनी चीज़ों को परिष्कार और सुरुचि का प्रतीक माना जाता था। उनकी फ़िनिश अच्छी होती थी। उनको एक-एक करके बनाया जाता था और उनका डिज़ाइन अच्छा होता था। मशीनों से बनने वाले उत्पादों को उपनिवेशों में निर्यात कर दिया जाता था।

जिन देशों में मज़दूरों की कमी होती है वहाँ उद्योगपति मशीनों का इस्तेमाल करना ज़्यादा पसंद करते हैं ताकि कम से कम मज़दूरों का इस्तेमाल करके वे अपना काम चला सकें। उन्नीसवीं सदी के अमेरिका में यही स्थिति थी। लेकिन ब्रिटेन में कामगारों की कोई कमी नहीं थी।



चित्र 9 - लोहे की फैक्ट्री में मज़दूर, उत्तर-पूर्व इंग्लैंड, विलियम बेल स्कॉट की पेंटिंग, 1861

उन्नीसवीं सदी के आखिर में बहुत सारे कलाकार मज़दूरों को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने लगे थे। उन्हें राष्ट्र के लिए कठिनाइयाँ और पीड़ा झेलते हुए दिखाया जाता था।

2.1 मज़दूरों की ज़िंदगी

बाज़ार में श्रम की बहुतायत से मज़दूरों की ज़िंदगी भी प्रभावित हुई। जैसे ही नौकरियों की खबर गाँवों में पहुँची सैकड़ों की तादाद में लोगों के हुज़ूम शहरों



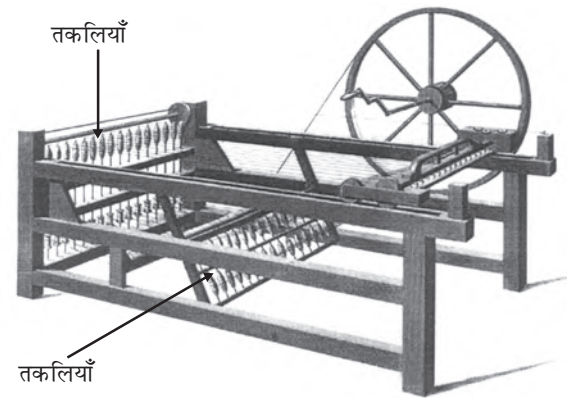
चित्र 10 - बेघर और भूखे, सेमुअल ल्यूक फ़िल्देस की पेंटिंग, 1874

इस पेंटिंग में दर्शाया गया है कि लंदन में बेघर लोग एक कामघर (Work house) में रात भर ठहरने के टिकट के लिए अर्ज़ी दे रहे हैं। ये आश्रय स्थल 'बेसहारा, सड़कों पर रहने वाले, आवाराओं और यहाँ-वहाँ भटकते' लोगों के लिए ग़रीब क़ानून आयुक्त की देखरेख में चलाए जाते थे। इन वर्कहाउसों में रहना ज़िल्लत की बात थी। हरेक की डाक्टरी जाँच करके ये पता लगाया जाता था कि व्यक्ति बीमार तो नहीं है, उनका शरीर पूरी तरह साफ़ है या नहीं और उनके कपड़े मैले तो नहीं हैं। उन्हें कठोर परिश्रम भी करना पड़ता था।

की तरफ़ चल पड़े। नौकरी मिलने की संभावना यारी-दोस्ती, कुनबे-कुटुंब के ज़रिए जान-पहचान पर निर्भर करती थी। अगर किसी कारख़ाने में आपका रिश्तेदार या दोस्त लगा हुआ है तो नौकरी मिलने की संभावना ज़्यादा रहती थी। सबके पास ऐसे सामाजिक संपर्क नहीं होते थे। रोज़गार चाहने वाले बहुत सारे लोगों को हफ़्तों इंतज़ार करना पड़ता था। वे पुलों के नीचे या रैन-बसेरों में राते काटते थे। कुछ बेरोज़गार शहर में बने निजी रैनबसेरों में रहते थे। बहुत सारे निर्धन क़ानून विभाग द्वारा चलाए जाने वाले अस्थायी बसेरों में रुकते थे।

बहुत सारे उद्योगों में मौसमी काम की वजह से कामगारों को बीच-बीच में बहुत समय तक खाली बैठना पड़ता था। काम का सीज़न गुजर जाने के बाद गरीब दोबारा सड़क पर आ जाते थे। कुछ लोग जाड़ों के बाद गाँवों में चले जाते थे जहाँ इस समय काम निकलने लगता था। लेकिन ज़्यादातर शहर में ही छोटा-मोटा काम ढूँढ़ने की कोशिश करते थे जो उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी आसान काम नहीं था।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में वेतन में कुछ सुधार आया। लेकिन इससे मज़दूरों की हालत में बेहतरी का पता नहीं चलता। औसत आँकड़ों से अलग-अलग व्यवसायों के बीच आने वाले फ़र्क और साल-दर-साल होने वाले उतार-चढ़ाव छिपे रह जाते थे। मिसाल के तौर पर, जब लंबे नेपोलियनी युद्ध के दौरान कीमतें तेज़ी से बढ़ीं तो मज़दूरों की आय के वास्तविक मूल्य में भारी कमी आ गई। अब उन्हें वेतन तो पहले जितना मिलता था लेकिन उससे वे पहले जितनी चीज़ें नहीं खरीद सकते थे। मज़दूरों की आमदनी भी सिर्फ़ वेतन दर पर ही निर्भर नहीं होती थी। रोज़गार की अवधि भी बहुत महत्वपूर्ण थी : मज़दूरों की औसत दैनिक आय इससे तय होती थी कि उन्होंने



चित्र 11 - स्पिनिंग जेनी, टी.ई. निकल्सन द्वारा बनाया गया रेखाचित्र, 1835

ध्यान से देखिए कि एक ही पहिये से कितनी सारी तकलियाँ घूमने लगती थीं।

स्रोत-ख

एक मजिस्ट्रेट ने 1790 में एक ऐसी घटना के बारे में बताया जिसमें उसे मज़दूरों के हमले से निर्माता की संपत्ति की रक्षा के लिए बुलाया गया था :

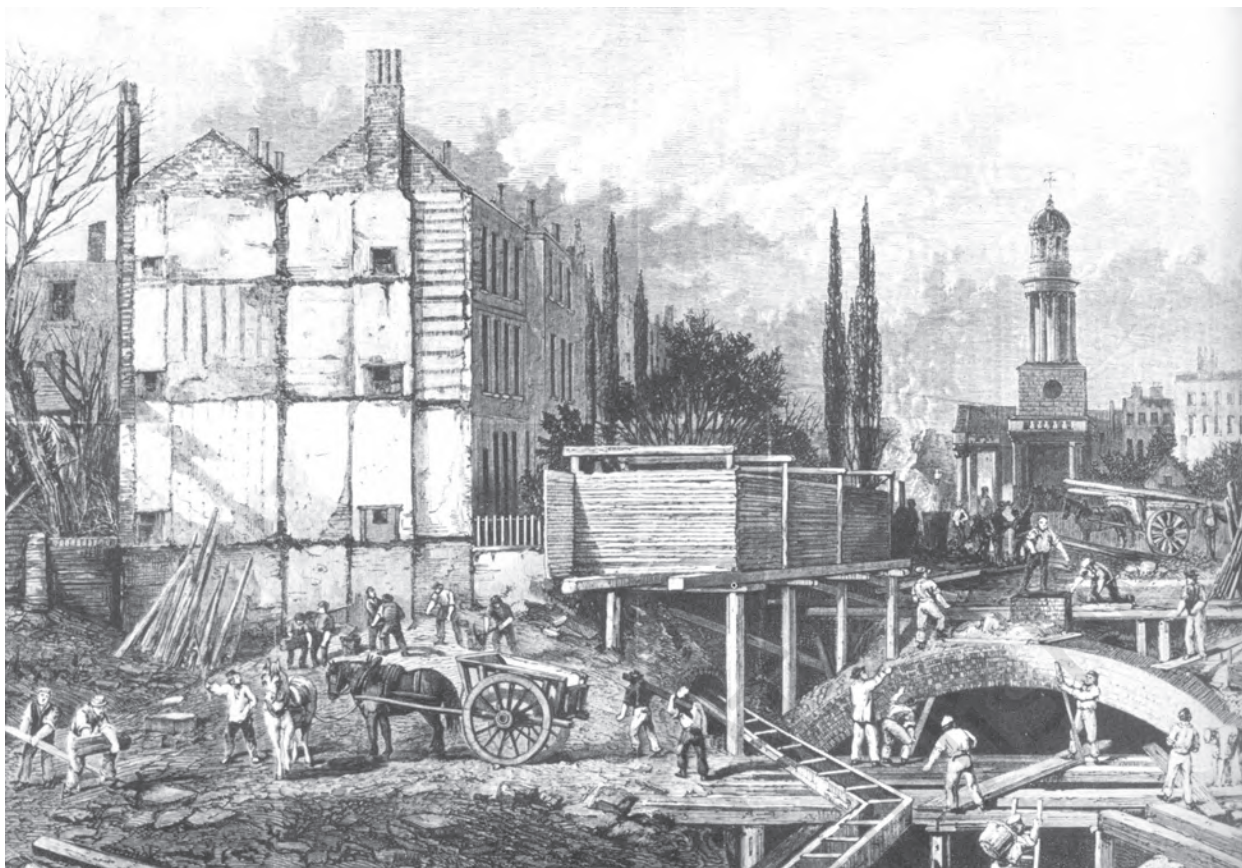
‘कोयला मज़दूरों और उनकी बीवियों के गिरोह की परेशानी के कारण... क्योंकि उनकी बीवियों का काम स्पिनिंग इंजन के कारण छिन गया था... शुरू में वे बड़े अड़ियल ढंग से आगे बढ़े। ऊन उत्पादन में अभी अपनाई गई मशीनों को वे टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहते थे क्योंकि उनकी वजह से शारीरिक श्रम की माँग घटने वाली थी। औरतों ने हंगामा मचाया हुआ था। आदमियों को समझाना आसान था इसलिए कुछ खींचतान के बाद उन्हें शांतिपूर्वक घर जाने के लिए तैयार कर लिया गया।

जे.एल. हैमंड एवं बी. हैमंड, द स्किल्ड लेबरर 1760-1832, मैक्सिन बर्ग, दि एज ऑफ़ मैन्युफैक्चर्स में उद्धृत।

स्रोत

चर्चा करें

चित्र 3, 7 और 11 को देखिए। इसके बाद स्रोत-ख को दोबारा पढ़िए। अब बताइए कि बहुत सारे मज़दूर स्पिनिंग जेनी के इस्तेमाल का विरोध क्यों कर रहे थे।



चित्र 12 - मध्य लंदन में निर्माणाधीन एक उथला भूमिगत रेलवे स्टेशन, इलस्ट्रेटेड टाइम्स, 1868

1850 के दशक से पूरे लंदन में रेलवे स्टेशन बनने लगे थे। इसका मतलब था कि सुरंगें बनाने, बल्लियों की पाड़ लगाने, ईंट और लोहे का काम करने के लिए बहुत सारे मजदूरों की जरूरत थी। रोजगार चाहने वाले एक निर्माण स्थल से दूसरे निर्माण स्थल तक जाते रहते थे।

कितने दिन काम किया है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में सबसे अच्छे हालात में भी लगभग 10 प्रतिशत शहरी आबादी निहायत गरीब थी। 1830 के दशक में आई आर्थिक मंदी जैसे दौरों में बेरोजगारों की संख्या विभिन्न क्षेत्रों में 35 से 75 प्रतिशत तक पहुँच जाती थी।

बेरोजगारी की आशंका के कारण मजदूर नयी प्रौद्योगिकी से चिढ़ते थे। जब ऊन उद्योग में **स्पिनिंग जेनी** मशीन का इस्तेमाल शुरू किया गया तो हाथ से ऊन कातने वाली औरतें इस तरह की मशीनों पर हमला करने लगीं। जेनी के इस्तेमाल पर यह टकराव लंबे समय तक चलता रहा।

1840 के दशक के बाद शहरों में निर्माण की गतिविधियाँ तेजी से बढ़ीं। लोगों के लिए नए रोजगार पैदा हुए। सड़कों को चौड़ा किया गया, नए रेलवे स्टेशन बने, रेलवे लाइनों का विस्तार किया गया, सुरंगें बनाई गईं, निकासी और सीवर व्यवस्था बिछाई गई, नदियों के तटबंध बनाए गए। परिवहन उद्योग में काम करने वालों की संख्या 1840 के दशक में दोगुना और अगले 30 सालों में एक बार फिर दोगुना हो गई।

नए शब्द

स्पिनिंग जेनी : जेम्स हर्ग्रीव्स द्वारा 1764 में बनाई गई इस मशीन ने कताई की प्रक्रिया तेज कर दी और मजदूरों की माँग घटा दी। एक ही पहिया घुमाने वाला एक मजदूर बहुत सारी तकलियों को घुमा देता था और एक साथ कई धागे बनने लगते थे।

3 उपनिवेशों में औद्योगीकरण

आइए अब भारत पर नज़र डालें और देखें कि एक उपनिवेश का औद्योगीकरण कैसे होता है। यहाँ भी हम कारखाना उद्योग के साथ-साथ गैर-मशीनी क्षेत्र पर भी ध्यान देंगे। हमारा अध्ययन मुख्य रूप से कपड़ा उद्योग तक ही सीमित रहेगा।

3.1 भारतीय कपड़े का युग

मशीन उद्योगों के युग से पहले अंतर्राष्ट्रीय कपड़ा बाज़ार में भारत के रेशमी और सूती उत्पादों का ही दबदबा रहता था। बहुत सारे देशों में मोटा कपास पैदा होता था लेकिन भारत में पैदा होने वाला कपास महीन किस्म का था। आर्मीनियन और फ़ारसी सौदागर पंजाब से अफ़ग़ानिस्तान, पूर्वी फ़ारस और मध्य एशिया के रास्ते यहाँ की चीज़ें लेकर जाते थे। यहाँ के बने महीन कपड़ों के थान ऊँटों की पीठ पर लाद कर पश्चिमोत्तर सीमा से पहाड़ी दर्रों और रेगिस्तानों के पार ले जाए जाते थे। मुख्य पूर्व औपनिवेशिक बंदरगाहों से फलता-फूलता समुद्री व्यापार चलता था। गुजरात के तट पर स्थित सूरत बंदरगाह के ज़रिए भारत खाड़ी और लाल सागर के बंदरगाहों से जुड़ा हुआ था। कोरोमंडल तट पर मछलीपटनम और बंगाल में हुगली के माध्यम से भी दक्षिण-पूर्वी एशियाई बंदरगाहों के साथ खूब व्यापार चलता था।

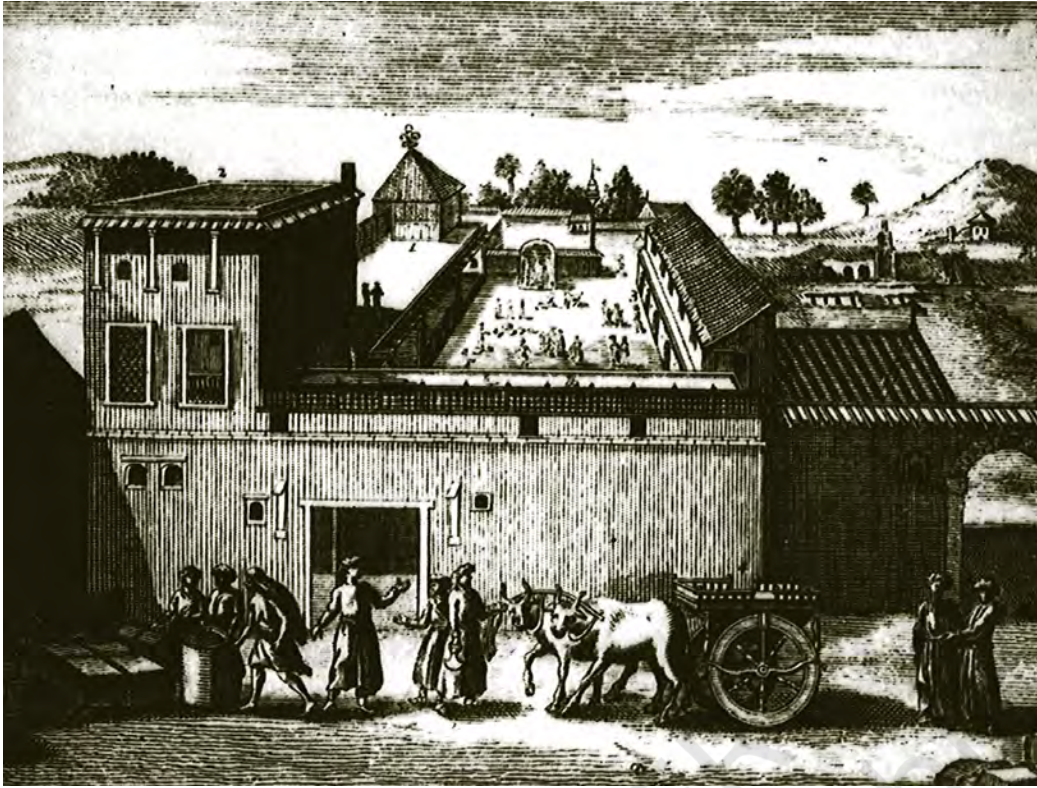
निर्यात व्यापार के इस नेटवर्क में बहुत सारे भारतीय व्यापारी और बैंकर सक्रिय थे। वे उत्पादन में पैसा लगाते थे, चीज़ों को लेकर जाते थे और निर्यातकों को पहुँचाते थे। माल भेजने वाले आपूर्ति सौदागरों के ज़रिये बंदरगाह नगर देश के भीतरी इलाकों से जुड़े हुए थे। ये सौदागर बुनकरों को पेशगी देते थे, बुनकरों से तैयार कपड़ा खरीदते थे और उसे बंदरगाहों तक पहुँचाते थे। बंदरगाह पर बड़े जहाज़ मालिक और निर्यात व्यापारियों के दलाल कीमत पर मोल-भाव करते थे और आपूर्ति सौदागरों से माल खरीद लेते थे।

1750 के दशक तक भारतीय सौदागरों के नियंत्रण वाला यह नेटवर्क टूटने लगा था।

यूरोपीय कंपनियों की ताक़त बढ़ती जा रही थी। पहले उन्होंने स्थानीय दरबारों से कई तरह की रियायतें हासिल कीं और उसके बाद उन्होंने व्यापार पर इज़ारेदारी अधिकार प्राप्त कर लिए। इससे सूरत व हुगली, दोनों पुराने बंदरगाह कमज़ोर पड़ गए। इन बंदरगाहों से होने वाले निर्यात में नाटकीय कमी आई। पहले जिस क़र्ज़ से व्यापार चलता था वह ख़त्म होने लगा। धीरे-धीरे स्थानीय बैंकर दिवालिया हो गए। सत्रहवीं सदी के आखिरी सालों में सूरत बंदरगाह से होने वाले व्यापार का कुल मूल्य 1.6 करोड़ रुपये था। 1740 के दशक तक यह गिर कर केवल 30 लाख रुपये रह गया था।

गतिविधि

एशिया के मानचित्र पर भारत से मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के साथ होने वाले कपड़ा व्यापार के समुद्री और सड़क संपर्कों को चिह्नित कीजिए।



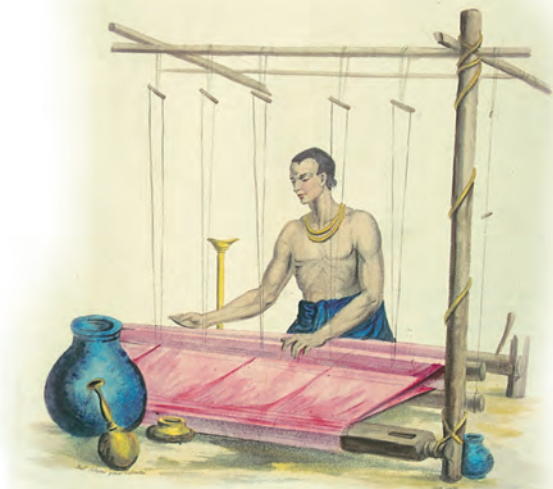
चित्र 13 - सूरत में एक इंग्लिश फैक्ट्री, सत्रहवीं सदी का चित्र।

सूरत व हुगली कमजोर पड़ रहे थे और बंबई व कलकत्ता की स्थिति सुधर रही थी। पुराने बंदरगाहों की जगह नए बंदरगाहों का बढ़ता महत्त्व औपनिवेशिक सत्ता की बढ़ती ताकत का संकेत था। नए बंदरगाहों के ज़रिए होने वाला व्यापार यूरोपीय कंपनियों के नियंत्रण में था और यूरोपीय जहाज़ों के ज़रिए होता था। बहुत सारे पुराने व्यापारिक घराने ढह चुके थे। जो बचे रहना चाहते थे उनके पास भी यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के नियंत्रण वाले नेटवर्क में काम करने के अलावा कोई चारा नहीं था।

इन बदलावों ने बुनकरों व अन्य कारीगरों की ज़िंदगी को किस तरह प्रभावित किया?

3.2 बुनकरों का क्या हुआ?

1760 के दशक के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता के सुदृढ़ीकरण की शुरुआत में भारत के कपड़ा निर्यात में गिरावट नहीं आई। ब्रिटिश कपास उद्योग अभी फैलना शुरू नहीं हुआ था और यूरोप में बारीक भारतीय कपड़ों की भारी माँग थी। इसलिए कंपनी भी भारत से होने वाले कपड़े के निर्यात को ही और फैलाना चाहती थी।



चित्र 14 - काम पर लगा एक बुनकर, गुजरात।

1760 और 1770 के दशकों में बंगाल और कर्नाटक में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने से पहले ईस्ट इंडिया कंपनी को निर्यात के लिए लगातार सप्लाई आसानी से नहीं मिल पाती थी। बुने हुए कपड़े को हासिल करने के लिए फ्रांसीसी, डच और पुर्तगालियों के साथ-साथ स्थानीय व्यापारी भी होड़ में रहते थे। इस प्रकार बुनकर और आपूर्ति सौदागर खूब मोल-भाव करते थे और अपना माल सबसे ऊँची बोली लगाने वाले खरीदार को ही बेचते थे। लंदन भेजे गए अपने पत्र में कंपनी के अफ़सरों ने आपूर्ति में मुश्किल और ऊँचे दामों का बार-बार जिक्र किया है।

लेकिन एक बार ईस्ट इंडिया कंपनी की राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाने के बाद कंपनी व्यापार पर अपने एकाधिकार का दावा कर सकती थी। फलस्वरूप उसने प्रतिस्पर्धा खत्म करने, लागतों पर अंकुश रखने और कपास व रेशम से बनी चीज़ों की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए प्रबंधन और नियंत्रण की एक नयी व्यवस्था लागू कर दी। यह काम कई चरणों में किया गया।

पहला : कंपनी ने कपड़ा व्यापार में सक्रिय व्यापारियों और दलालों को खत्म करने तथा बुनकरों पर ज़्यादा प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की। कंपनी ने बुनकरों पर निगरानी रखने, माल इकट्ठा करने और कपड़ों की गुणवत्ता जाँचने के लिए वेतनभोगी कर्मचारी तैनात कर दिए जिन्हें *गुमाश्ता* कहा जाता था।

दूसरा : कंपनी को माल बेचने वाले बुनकरों को अन्य खरीदारों के साथ कारोबार करने पर पाबंदी लगा दी गई। इसके लिए उन्हें पेशगी रक़म दी जाती थी। एक बार काम का ऑर्डर मिलने पर बुनकरों को कच्चा माल खरीदने के लिए क़र्ज़ा दे दिया जाता था। जो क़र्ज़ा लेते थे उन्हें अपना बनाया हुआ कपड़ा गुमाश्ता को ही देना पड़ता था। उसे वे किसी और व्यापारी को नहीं बेच सकते थे।

जैसे-जैसे क़र्ज़े मिलते गए और महीन कपड़े की माँग बढ़ने लगी, ज़्यादा कमाई की आस में बुनकर पेशगी स्वीकार करने लगे। बहुत सारे बुनकरों के पास ज़मीन के छोटे-छोटे पट्टे थे जिन पर वे खेती करते थे और अपने परिवार की ज़रूरतें पूरी कर लेते थे। अब वे इस ज़मीन को भाड़े पर देकर पूरा समय बुनकरी में लगाने लगे। अब पूरा परिवार यही काम करने लगा। बच्चे व औरतें, सभी कुछ न कुछ काम करते थे।

लेकिन जल्दी ही बहुत सारे बुनकर गाँवों में बुनकरों और गुमाश्तों के बीच टकराव की खबरें आने लगीं। इससे पहले आपूर्ति सौदागर अकसर बुनकर गाँवों में ही रहते थे और बुनकरों से उनके नज़दीकी ताल्लुकात होते थे। वे बुनकरों की ज़रूरतों का खयाल रखते थे और संकट के समय उनकी मदद

करते थे। नए गुमाश्ता बाहर के लोग थे। उनका गाँवों से पुराना सामाजिक संबंध नहीं था। वे दंभपूर्ण व्यवहार करते थे, सिपाहियों व चपरासियों को लेकर आते थे और माल समय पर तैयार न होने की स्थिति में बुनकरों को सजा देते थे। सजा के तौर पर बुनकरों को अकसर पीटा जाता था और कोड़े बरसाए जाते थे। अब बुनकर न तो दाम पर मोलभाव कर सकते थे और न ही किसी और को माल बेच सकते थे। उन्हें कंपनी से जो कीमत मिलती थी वह बहुत कम थी पर वे क़र्जों की वजह से कंपनी से बँधे हुए थे।

कर्नाटक और बंगाल में बहुत सारे स्थानों पर बुनकर गाँव छोड़ कर चले गए। वे अपने रिश्तेदारों के यहाँ किसी और गाँव में करघा लगा लेते थे। कई स्थानों पर कंपनी और उसके अफ़सरों का विरोध करते हुए गाँव के व्यापारियों के साथ मिलकर बुनकरों ने बगावत कर दी। कुछ समय बाद बहुत सारे बुनकर क़र्जा लौटाने से इनकार करने लगे। उन्होंने करघे बंद कर दिए और खेतों में मज़दूरी करने लगे।

उन्नीसवीं सदी आते-आते कपास बुनकरों के सामने नयी समस्याएँ पैदा हो गईं।

3.3 भारत में मैनचेस्टर का आना

1772 में ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सर हेनरी पतूलो ने कहा था कि भारतीय कपड़े की माँग कभी कम नहीं हो सकती क्योंकि दुनिया के किसी और देश में इतना अच्छा माल नहीं बनता। लेकिन हम देखते हैं कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में भारत के कपड़ा निर्यात में गिरावट आने लगी जो लंबे समय तक जारी रही। 1811-12 में सूती माल का हिस्सा कुल निर्यात में 33 प्रतिशत था। 1850-51 में यह मात्र 3 प्रतिशत रह गया था।

ऐसा क्यों हुआ? उसके निहितार्थ क्या थे?

जब इंग्लैंड में कपास उद्योग विकसित हुआ तो वहाँ के उद्योगपति दूसरे देशों से आने वाले आयात को लेकर परेशान दिखाई देने लगे। उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह आयातित कपड़े पर आयात शुल्क वसूल करे जिससे मैनचेस्टर में बने कपड़े बाहरी प्रतिस्पर्धा के बिना इंग्लैंड में आराम से बिक सकें। दूसरी तरफ़ उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी पर दबाव डाला कि वह ब्रिटिश कपड़ों को भारतीय बाज़ारों में भी बेचे। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ब्रिटेन के वस्त्र उत्पादों के निर्यात में नाटकीय वृद्धि हुई। अठारहवीं सदी के आखिर में भारत में उत्पादों का न के बराबर निर्यात होता था। 1850 तक आते-आते सूती का आयात भारतीय आयात में 31 प्रतिशत हो चुका था। 1870 तक यह आँकड़ा 50 प्रतिशत से ऊपर चला गया।

इस प्रकार भारत में कपड़ा बुनकरों के सामने एक-साथ दो समस्याएँ थीं। उनका निर्यात बाज़ार ढह रहा था और स्थानीय बाज़ार सिकुड़ने लगा था।

स्रोत-ग

पटना के आयुक्त ने लिखा –

‘ऐसा लगता है कि 20 साल पहले जहानाबाद और बिहार में कपड़ों का बड़े पैमाने पर उत्पादन होता था। जहानाबाद में यह बिल्कुल बंद हो गया है। जबकि बिहार में बहुत कम उत्पादन होता है। यह मैनचेस्टर में बनी सस्ती और टिकाऊ वस्तुओं का परिणाम है जिनसे स्थानीय निर्माता प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।’

जे. कृष्णमूर्ति, ‘डीइंडस्ट्रियलाइजेशन ऑफ़ गैंगेटिक बिहार ड्यूरिंग द नाइनटीथ सेंचुरी’, *दि इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 1985, में उद्धृत।

स्रोत

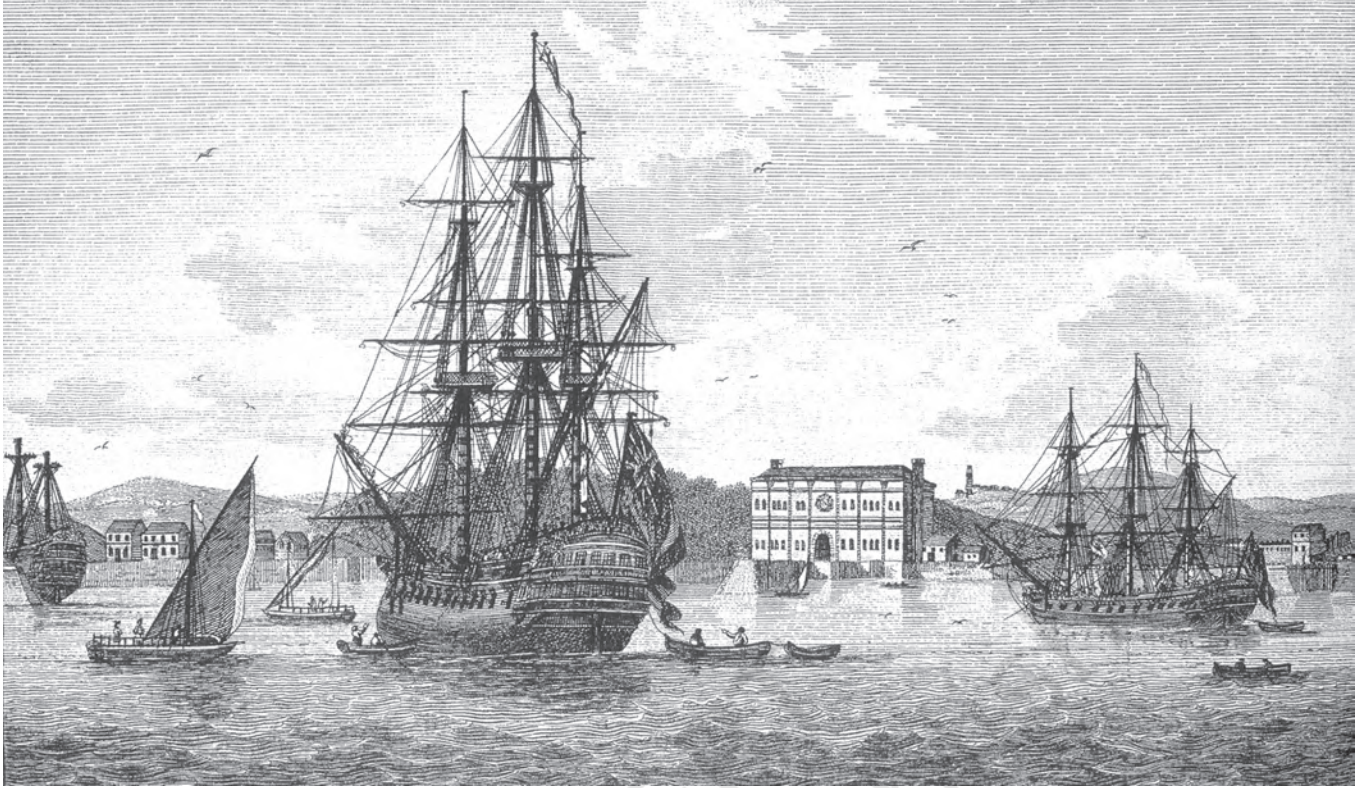
स्रोत-घ

संसद रिपोर्ट ऑफ़ सेंट्रल प्रोविंसेज़ में बुनकरों के कोष्टि समुदाय के बारे में कहा गया था –

‘भारत के अन्य भागों में महीन कपड़ा बनाने वाले बुनकरों की तरह कोष्टियों का भी बुरा समय चल रहा है। वे मैनचेस्टर से इतनी भारी तादाद में आने वाली आकर्षक चीज़ों का मुकाबला नहीं कर पा रहे हैं। हाल के सालों में वे बड़ी संख्या में यहाँ से जाने लगे हैं। वे मुख्य रूप से बिहार का रुख कर रहे हैं जहाँ दिहाड़ी मज़दूर के तौर पर उन्हें रोज़ी-रोटी मिल जाती है...’

संसद रिपोर्ट ऑफ़ सेंट्रल प्रोविंसेज़, 1872, सुमित गुहा ‘द हैंडलूम इंडस्ट्री इन सेंट्रल इंडिया, 1825-1950’, *दि इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 1989, में उद्धृत।

स्रोत



चित्र 15 - बॉम्बे हार्बर, अठारहवीं सदी के आखिर का चित्र।

बंबई और कलकत्ता 1780 के दशक से व्यापारिक बंदरगाहों के रूप में विकसित होने लगे थे। यह पुरानी व्यापारिक व्यवस्था के पतन और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के विकास का समय था।

स्थानीय बाज़ार में मैनचेस्टर के आयातित मालों की भरमार थी। कम लागत पर मशीनों से बनने वाले आयातित कपास उत्पाद इतने सस्ते थे कि बुनकर उनका मुकाबला नहीं कर सकते थे। 1850 के दशक तक देश के ज्यादातर बुनकर इलाकों में गिरावट और बेकारी के ही किस्सों की भरमार थी।

1860 के दशक में बुनकरों के सामने नयी समस्या खड़ी हो गई। उन्हें अच्छी कपास नहीं मिल पा रही थी। जब अमेरिकी गृहयुद्ध शुरू हुआ और अमेरिका से कपास की आमद बंद हो गई तो ब्रिटेन भारत से कच्चा माल मँगाने लगा। भारत से कच्चे कपास के निर्यात में इस वृद्धि से उसकी कीमत आसमान छूने लगी। भारतीय बुनकरों को कच्चे माल के लाले पड़ गए। उन्हें मनमानी कीमत पर कच्ची कपास खरीदनी पड़ती थी। ऐसी सूरत में बुनकरी के सहारे पेट पालना संभव नहीं था।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में बुनकरों और कारीगरों के सामने एक और समस्या आ गई। अब भारतीय कारखानों में उत्पादन होने लगा और बाज़ार मशीनों की बनी चीज़ों से पट गया था। ऐसे में बुनकर उद्योग किस तरह कायम रह सकता था?

4 फैक्ट्रियों का आना

बंबई में पहली कपड़ा मिल 1854 में लगी और दो साल बाद उसमें उत्पादन होने लगा। 1862 तक वहाँ ऐसी चार मिलें काम कर रही थीं। उनमें 94,000 तकलियाँ और 2,150 करघे थे। उसी समय बंगाल में जूट मिलें खुलने लगीं। वहाँ देश की पहली जूट मिल 1855 में और दूसरी 7 साल बाद 1862 में चालू हुई। उत्तरी भारत में एल्विन मिल 1860 के दशक में कानपुर में खुली। इसके साल भर बाद अहमदाबाद की पहली कपड़ा मिल भी चालू हो गई। 1874 में मद्रास में भी पहली कताई और बुनाई मिल खुल गई।

ये उद्योग कौन लगा रहा था? उनके लिए पूँजी कहा से आ रही थी? मिलों में काम करने वाले कौन थे?

4.1 प्रारंभिक उद्यमी

देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह के लोग उद्योग लगा रहे थे। आइए देखें ये कौन लोग थे।

बहुत सारे व्यावसायिक समूहों का इतिहास चीन के साथ व्यापार के ज़माने से चला आ रहा था। जैसा कि पिछले साल की किताब में आपने पढ़ा था, अठारहवीं सदी के आखिर से ही अंग्रेज़ भारतीय अफ़्रीम का चीन को निर्यात करने लगे थे। उसके बदले में वे चीन से चाय खरीदते थे जो इंग्लैंड जाती थी। इस व्यापार में बहुत सारे भारतीय कारोबारी सहायक की हैसियत में पहुँच गए थे। वे पैसा उपलब्ध कराते थे, आपूर्ति सुनिश्चित करते थे और माल को जहाज़ों में लाद कर रवाना करते थे। व्यापार से पैसा कमाने के बाद उनमें से कुछ व्यवसायी भारत में औद्योगिक उद्यम स्थापित करना चाहते थे। बंगाल में द्वारकानाथ टैगोर ने चीन के साथ व्यापार में ख़ूब पैसा कमाया और वे उद्योगों में निवेश करने लगे। 1830-1840 के दशकों में उन्होंने 6 संयुक्त उद्यम कंपनियाँ लगा ली थीं। 1840 के दशक में आए व्यापक व्यावसायिक संकटों में औरों के साथ-साथ टैगोर के उद्यम भी बैठ गए। लेकिन उन्नीसवीं सदी में चीन के साथ व्यापार करने वाले बहुत सारे व्यवसायी सफल उद्योगपति भी साबित हुए। बंबई में डिनशाँ पेटिट और आगे चलकर देश में विशाल औद्योगिक साम्राज्य स्थापित करने वाले जमशेदजी नुसरवानजी टाटा जैसे पारसियों ने आंशिक रूप से चीन को निर्यात करके और आंशिक रूप से इंग्लैंड को कच्ची कपास निर्यात करके पैसा कमा लिया था। 1917 में कलकत्ता में देश की पहली जूट मिल लगाने वाले मारवाड़ी व्यवसायी सेठ हुकुमचंद ने भी चीन के साथ व्यापार किया था। यही काम प्रसिद्ध उद्योगपति जी.डी. बिड़ला के पिता और दादा ने किया।



चित्र 16 - जमशेदजी जीजीभोये।

जीजीभोये एक पारसी बुनकर के बेटे थे। अपने समय के बहुत सारे लोगों की तरह उन्होंने भी चीन के साथ व्यापार और जहाज़रानी का काम किया था। उनके पास जहाज़ों का एक विशाल बेड़ा था। अंग्रेज़ और अमेरिकी जहाज़ कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण 1850 के दशक तक उन्हें सारे जहाज़ बेचने पड़े।



चित्र 17 - द्वारकानाथ टैगोर।

द्वारकानाथ टैगोर का विश्वास था कि भारत पश्चिमीकरण और औद्योगिकीकरण के रास्ते पर चलकर ही विकास कर सकता है। उन्होंने जहाज़रानी, जहाज़ निर्माण, खनन, बैंकिंग, बागान और बीमा क्षेत्र में निवेश किया था।

पूँजी इकट्ठा करने के लिए अन्य व्यापारिक नेटवर्कों का सहारा लिया गया। मद्रास के कुछ सौदागर बर्मा से व्यापार करते थे जबकि कुछ के मध्य-पूर्व व पूर्वी अफ्रीका में संबंध थे। इनके अलावा भी कुछ वाणिज्यिक समूह थे लेकिन वे विदेश व्यापार से सीधे जुड़े हुए नहीं थे। वे भारत में ही व्यवसाय करते थे। वे एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाते थे, सूद पर पैसा चलाते थे, एक शहर से दूसरे शहर में पैसा पहुँचाते थे और व्यापारियों को पैसा देते थे। जब उद्योगों में निवेश के अवसर आए तो उनमें से बहुतों ने फैक्ट्रियाँ लगा लीं।

जैसे भारतीय व्यापार पर औपनिवेशिक शिकंजा कसता गया, वैसे-वैसे भारतीय व्यावसायियों के लिए जगह सिकुड़ती गई। उन्हें अपना तैयार माल यूरोप में बेचने से रोक दिया गया। अब वे मुख्य रूप से कच्चे माल और अनाज-कच्ची कपास, अफ्रीम, गेहूँ और नील-का ही निर्यात कर सकते थे जिनकी अंग्रेजों को जरूरत थी। धीरे-धीरे उन्हें जहाज़रानी व्यवसाय से भी बाहर धकेल दिया गया।

पहले विश्वयुद्ध तक यूरोपीय प्रबंधकीय एजेंसियाँ भारतीय उद्योगों के विशाल क्षेत्र का नियंत्रण करती थीं। इनमें बर्ड हीगलर्स एंड कंपनी, एंड्रयू यूल, और जार्जिन स्किनर एंड कंपनी सबसे बड़ी कंपनियाँ थीं। ये एजेंसियाँ पूँजी जुटाती थीं, संयुक्त उद्यम कंपनियाँ लगाती थीं और उनका प्रबंधन सँभालती थीं। ज्यादातर मामलों में भारतीय वित्तपोषक (फाइनेंसर) पूँजी उपलब्ध कराते थे जबकि निवेश और व्यवसाय से संबंधित फैसले यूरोपीय एजेंसियाँ लेती थीं। यूरोपीय व्यापारियों-उद्योगपतियों के अपने वाणिज्यिक परिसंघ थे जिनमें भारतीय व्यवसायियों को शामिल नहीं किया जाता था।

4.2 मज़दूर कहाँ से आए?

फैक्ट्रियाँ होंगी तो मज़दूर भी होंगे। फैक्ट्रियों के विस्तार से मज़दूरों की माँग बढ़ने लगी। 1901 में भारतीय फैक्ट्रियों में 5,84,000 मज़दूर काम करते थे। 1946 तक यह संख्या बढ़कर 24,36,000 हो चुकी थी। ये मज़दूर कहाँ से आए?

ज्यादातर औद्योगिक इलाकों में मज़दूर आसपास के जिलों से आते थे। जिन किसानों-कारीगरों को गाँव में काम नहीं मिलता था वे औद्योगिक केंद्रों की तरफ जाने लगते थे। 1911 में बंबई के सूती कपड़ा उद्योग में काम करने वाले 50 प्रतिशत से ज्यादा मज़दूर पास के रत्नागिरी जिले से आए थे। कानपुर की मिलों में काम करने वाले ज्यादातर कानपुर जिले के ही गाँवों से आते थे। मिल मज़दूर बीच-बीच में अपने गाँव जाते रहते थे। वे फ़सलों की कटाई व त्यौहारों के समय गाँव लौट जाते थे।

बाद में, जब नए कामों की खबर फैली तो दूर-दूर से भी लोग आने लगे। उदाहरण के लिए, संयुक्त प्रांत के लोग बंबई के कपड़ा मिलों और कलकत्ता के जूट मिलों में काम करने के लिए पहुँच रहे थे।



चित्र 18 - साझेदारों की टोली - जे.एन. टाटा, आर.डी. टाटा, सर आर.जे. टाटा और सर डी.जे. टाटा।

1912 में जे.एन. टाटा ने जमशेदपुर में भारत का पहला लौह एवं इस्पात संयंत्र स्थापित किया। भारत में लौह एवं इस्पात उद्योग, कपड़ा उद्योग के काफ़ी बाद शुरू हुआ। औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक मशीनरी, रेलवे और लोकोमोटिव का ज्यादातर आयात ही किया जाता था। इसलिए स्वतंत्रता मिलने तक भारी उद्योग कोई खास आगे नहीं बढ़ सकता था।



चित्र 19 - बंबई के एक मिल के युवा कामगार, बीसवीं सदी की शुरुआत।

जब मज़दूर गाँव जाते थे तो अच्छे कपड़े पहनने की कोशिश करते थे।

नौकरी पाना हमेशा मुश्किल था। हालाँकि मिलों की संख्या बढ़ती जा रही थी और मजदूरों की माँग भी बढ़ रही थी लेकिन रोज़गार चाहने वालों की संख्या रोज़गारों के मुकाबले हमेशा ज्यादा रहती थी। मिलों में प्रवेश भी निषिद्ध था। उद्योगपति नए मजदूरों की भर्ती के लिए प्रायः एक **जॉबर** रखते थे। जॉबर कोई पुराना और विश्वस्त कर्मचारी होता था। वह अपने गाँव से लोगों को लाता था, उन्हें काम का भरोसा देता था, उन्हें शहर में जमने के लिए मदद देता था और मुसीबत में पैसे से मदद करता था। इस प्रकार जॉबर ताक़तवर और मजबूत व्यक्ति बन गया था। बाद में जॉबर मदद के बदले पैसे व तोहफ़ों की माँग करने लगे और मजदूरों की ज़िंदगी को नियंत्रित करने लगे।

समय के साथ फैक्ट्री मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी। लेकिन जैसा कि आप देखेंगे, कुल औद्योगिक श्रम शक्ति में उनका अनुपात बहुत छोटा था।

स्रोत-ड

बंबई के एक मिल मजदूर वसंत पारकर ने कहा –

‘मजदूर अपने बेटों को मिल में काम पर रखवाने के लिए जॉबर को पैसा देते थे...। मिल मजदूर शारीरिक और भावनात्मक रूप से उसके गाँव से गहरे तौर पर जुड़े होते थे। वह गाँव जाकर फ़सलों की कटाई करता था। कोंकणी लोग धान काटने और घाटी यानी गन्ना काटने गाँव में जाते थे। यह एक स्वीकृत व्यवस्था थी जिसके लिए मिल वाले छुट्टी दे देते थे।’

मीना मेनन एवं नीरा अदरकर, *वन हंड्रेड इयर्स : वन हंड्रेड वॉइसेज़*, 2004

स्रोत



चित्र 20 - मुख्य जॉबर।

इस चित्र में देखें कि उसका अंदाज़ और उसके कपड़ों से जॉबर की सत्ता का पता चलता है।

नए शब्द

जॉबर : इन्हें अलग-अलग इलाकों में ‘सरदार’ या ‘मिस्त्री’ आदि भी कहते थे।

स्रोत-च

भाई भोसले बंबई के ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता थे। 1930-40 के दशकों में बिताए अपने बचपन को उन्होंने इस प्रकार याद किया –

‘उस जमाने में दस घंटे की शिफ्ट होती थी। शाम पाँच बजे से सुबह तीन बजे तक काम के सबसे भयानक घंटे। मेरे पिताजी ने 35 साल नौकरी की। उन्हें दमा जैसी बीमारी हो गई और वे काम करने से लाचार हो गए...। इसके बाद मेरे पिताजी वापस गाँव चले गए।’

मीना मेनन एवं नीरा अदरकर, *वन हंड्रेड इयर्स : वन हंड्रेड वॉइसेज़*, 2004

स्रोत



चित्र 21 - अहमदाबाद के एक मिल में कताई में लगी मजदूर औरतें। औरतें मुख्य रूप से कताई विभाग में ही काम करती थीं।

5 औद्योगिक विकास का अनुठापन

भारत में औद्योगिक उत्पादन पर वर्चस्व रखने वाली यूरोपीय प्रबंधकीय एजेंसियों की कुछ खास तरह के उत्पादों में ही दिलचस्पी थी। उन्होंने औपनिवेशिक सरकार से सस्ती कीमत पर ज़मीन लेकर चाय व कॉफी के बागान लगाए और खनन, नील व जूट व्यवसाय में पैसे का निवेश किया। इनमें से ज़्यादातर ऐसे उत्पाद थे जिनकी भारत में बिक्री के लिए नहीं बल्कि मुख्य रूप से निर्यात के लिए आवश्यकता थी।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में जब भारतीय व्यवसायी उद्योग लगाने लगे तो उन्होंने भारतीय बाज़ार में मैनचेस्टर की बनी चीज़ों से प्रतिस्पर्धा नहीं की। भारत आने वाले ब्रिटिश मालों में धागा बहुत अच्छा नहीं था इसलिए भारत के शुरुआती सूती मिलों में कपड़े की बजाय मोटे सूती धागे ही बनाए जाते थे। जब धागे का आयात किया जाता था तो वह हमेशा बेहतर किस्म का होता था। भारतीय कताई मिलों में बनने वाले धागे का भारत के हथकरघा बुनकर इस्तेमाल करते थे या उन्हें चीन को निर्यात कर दिया जाता था।

बीसवीं सदी के पहले दशक तक भारत में औद्योगीकरण का ढर्रा कई बदलावों की चपेट में आ चुका था। स्वदेशी आंदोलन को गति मिलने से राष्ट्रवादियों ने लोगों को विदेशी कपड़े के बहिष्कार के लिए प्रेरित किया। औद्योगिक समूह अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिए संगठित हो गए और उन्होंने आयात शुल्क बढ़ाने तथा अन्य रियायतें देने के लिए सरकार पर दबाव डाला। 1906 के बाद चीन भेजे जाने वाले भारतीय धागे के निर्यात में भी कमी आने लगी थी। चीनी बाज़ारों में चीन और जापान की मिलों के उत्पाद छा गए थे। फलस्वरूप, भारत के उद्योगपति धागे की बजाय कपड़ा बनाने लगे। 1900 से 1912 के भारत में सूती कपड़े का उत्पादन दोगुना हो गया।

पहले विश्व युद्ध तक औद्योगिक विकास धीमा रहा। युद्ध ने एक बिलकुल नयी स्थिति पैदा कर दी थी। ब्रिटिश कारख़ाने सेना की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए युद्ध संबंधी उत्पादन में व्यस्त थे इसलिए भारत में मैनचेस्टर के माल का आयात कम हो गया। भारतीय बाज़ारों को रातोंरात एक विशाल देशी बाज़ार मिल गया। युद्ध लंबा खिंचा तो भारतीय कारख़ानों में भी फ़ौज के लिए जूट की बोरियाँ, फ़ौजियों के लिए वर्दी के कपड़े, टेंट और चमड़े के जूते, घोड़े व खच्चर की जीन तथा बहुत सारे अन्य सामान बनने लगे। नए कारख़ाने लगाए गए।



चित्र 22 - मद्रास चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स का पहला दफ़्तर।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक देश के विभिन्न क्षेत्रों के व्यवसायी मिलकर चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स बनाने लगे थे ताकि सही तरह से व्यवसाय कर सकें और सामूहिक चिंता के मुद्दों पर फ़ैसला ले सकें।

पुराने कारखाने कई पालियों में चलने लगे। बहुत सारे नए मजदूरों को काम पर रखा गया और हरेक को पहले से भी ज्यादा समय तक काम करना पड़ता था। युद्ध के दौरान औद्योगिक उत्पादन तेजी से बढ़ा।

युद्ध के बाद भारतीय बाजार में मैनचेस्टर को पहले वाली हैसियत कभी हासिल नहीं हो पायी। आधुनिकीकरण न कर पाने और अमेरिका, जर्मनी व जापान के मुकाबले कमजोर पड़ जाने के कारण ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था चरमरा गई थी। कपास का उत्पादन बहुत कम रह गया था और ब्रिटेन से होने वाले सूती कपड़े के निर्यात में जबरदस्त गिरावट आई। उपनिवेशों में विदेशी उत्पादों को हटाकर स्थानीय उद्योगपतियों ने घरेलू बाजारों पर कब्जा कर लिया और धीरे-धीरे अपनी स्थिति मजबूत बना ली।

5.1 लघु उद्योगों की बहुतायत

हालाँकि युद्ध के बाद फैक्ट्री उद्योगों में लगातार इजाफ़ा हुआ लेकिन अर्थव्यवस्था में विशाल उद्योगों का हिस्सा बहुत छोटा था। उनमें से ज्यादातर - 1911 में 67 प्रतिशत - बंगाल और बंबई में स्थित थे। बाकी पूरे देश में छोटे स्तर के उत्पादन का ही दबदबा रहा। पंजीकृत फैक्ट्रियों में कुल औद्योगिक श्रम शक्ति का बहुत छोटा हिस्सा ही काम करता था। यह संख्या 1911 में 5 प्रतिशत और 1931 में 10 प्रतिशत थी। बाकी मजदूर गली-मोहल्लों में स्थित छोटी-छोटी वर्कशॉप और घरेलू इकाइयों में काम करते थे।

कुछ मामलों में तो बीसवीं सदी के दौरान हाथ से होने वाले उत्पादन में दरअसल इजाफ़ा हुआ था। यह बात हथकरघा क्षेत्र के बारे में भी सही है जिसकी हमने पीछे चर्चा की थी। सस्ते मशीन-निर्मित धागे ने उन्नीसवीं सदी में कताई उद्योग को तो खत्म कर दिया था लेकिन तमाम समस्याओं के बावजूद बुनकर अपना व्यवसाय किसी तरह चलाते रहे। बीसवीं सदी में हथकरघों पर बने कपड़े के उत्पादन में लगातार सुधार हुआ। 1900 से 1940 के बीच यह तीन गुना हो चुका था।

ऐसा कैसे हुआ?

इसके पीछे आंशिक रूप से तकनीकी बदलावों का हाथ था। अगर लागत में बहुत ज्यादा इजाफ़ा न हो और उत्पादन बढ़ सकता हो तो हाथ से काम करने वालों को नयी तकनीक अपनाने में कोई परेशानी नहीं होती। इसलिए, बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते हम ऐसे बुनकरों को देखते हैं जो **फ़्लाइ शटल** वाले करघों का इस्तेमाल करते थे। इससे कामगारों की उत्पादन क्षमता बढ़ी, उत्पादन तेज़ हुआ और श्रम की माँग में कमी आई। 1941 तक भारत में 35 प्रतिशत से ज्यादा हथकरघों में फ़्लाइ शटल लगे होते थे। त्रावणकोर, मद्रास, मैसूर, कोचीन, बंगाल आदि क्षेत्रों में तो ऐसे हथकरघे 70-80 प्रतिशत तक थे। इसके अलावा भी कई छोटे-छोटे सुधार किए गए जिनसे बुनकरों को अपनी उत्पादकता बढ़ाने और मिलों से मुकाबला करने में मदद मिली।



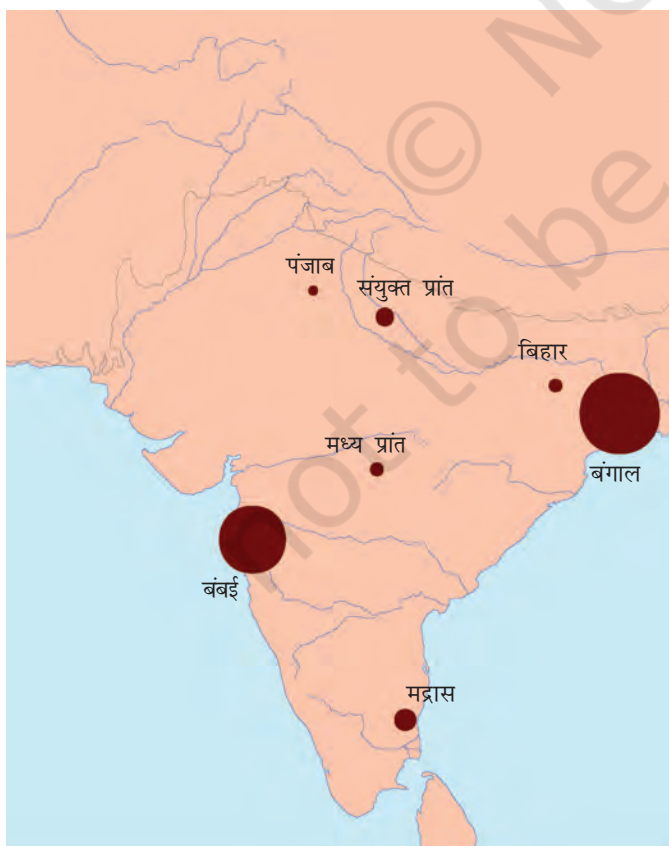
चित्र 23 - हाथ से बुना कपड़ा।
हाथ से बुने कपड़े के महीन डिज़ाइन की मिलों में नक़ल नहीं की जा सकती थी।

नए शब्द

फ़्लाइ शटल : यह रस्सियों और पुलियों के ज़रिए चलने वाला एक यांत्रिक औज़ार है जिसका बुनाई के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह क्षैतिज धागे (ताना—the weft) को लम्बवत् धागे (बाना—the warp) में पिरो देती है। फ़्लाइ शटल के आविष्कार से बुनकरों को बड़े करघे चलाना और चौड़े अरज का कपड़ा बनाने में काफ़ी मदद मिली।

मिलों के साथ प्रतिस्पर्धा का मुकाबला कर पाने के मामले में कुछ बुनकर औरों से बेहतर स्थिति में थे। बुनकरों में से कुछ मोटा कपड़ा बनाते थे जबकि कुछ महीन किस्म के कपड़े बुनते थे। मोटे कपड़े को मुख्य रूप से गरीब ही खरीदते थे और उसकी माँग में भारी उतार-चढ़ाव आते थे। खराब फ़सल और अकाल के समय जब ग्रामीण गरीबों के पास खाने को कुछ नहीं होता था और नकद आय के साधन खत्म हो जाते थे तो वे कपड़ा नहीं खरीद सकते थे। बेहतर किस्म के कपड़े की माँग खाते-पीते तबके में ज्यादा थी। उसमें उतार-चढ़ाव कम आते थे। जब गरीब भूखों मर रहे होते थे तब भी अमीर यह कपड़ा खरीद सकते थे। अकालों से बनारसी या बालूचरी साड़ियों की बिक्री पर असर नहीं पड़ता था। वैसे भी, जैसा कि आप देख चुके हैं, मिल विशेष प्रकार की बुनाई की नक़ल नहीं कर सकते थे। बुने हुए बॉर्डर वाली साड़ियों या मद्रास की प्रसिद्ध लुगियों की जगह ले लेना मिलों के लिए आसान नहीं था।

ऐसा भी नहीं है कि बीसवीं सदी में भी उत्पादन बढ़ाते जा रहे बुनकरों व अन्य दस्तकारों को हमेशा फ़ायदा ही हो रहा था। उनकी ज़िंदगी बहुत कठोर थी। उन्हें दिन-रात काम करना पड़ता था। अक्सर पूरा परिवार-बच्चे, बूढ़े, औरतें-उत्पादन के किसी न किसी काम में हाथ बढ़ाता था। लेकिन ये फैक्ट्रियों के युग में अतीत के अवशेष भर नहीं थे। उनका जीवन और श्रम औद्योगीकरण की प्रक्रिया का अभिन्न अंग थे।



चित्र 24 - भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों वाले इलाक़े, 1931
चित्र में बने गोले विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों के आकार को इंगित करते हैं।

6 वस्तुओं के लिए बाज़ार

हम देख चुके हैं कि किस तरह ब्रिटिश निर्माताओं ने भारतीय बाज़ार पर कब्ज़े के लिए प्रयास किया और किस तरह भारतीय बुनकरों व दस्तकारों, व्यापारियों व उद्योगपतियों ने औपनिवेशिक नियंत्रण का विरोध किया, आयात शुल्क सुरक्षा के लिए माँग उठाई, अपने लिए जगह बनाई और अपने माल के बाज़ार को फैलाने का प्रयास किया।

जब नयी चीज़ें बनती हैं तो लोगों को उन्हें खरीदने के लिए प्रेरित भी करना पड़ता है। लोगों को लगना चाहिए कि उन्हें उस उत्पाद की ज़रूरत है। इसके लिए क्या किया गया?

नए उपभोक्ता पैदा करने का एक तरीका विज्ञापनों का है। जैसा कि आप जानते हैं, विज्ञापन विभिन्न उत्पादों को ज़रूरी और वांछनीय बना लेते हैं। वे लोगों की सोच बदल देते हैं और नयी ज़रूरतें पैदा कर देते हैं। आज हम एक ऐसी दुनिया में हैं जहाँ चारों तरफ़ विज्ञापन छाए हुए हैं। अखबारों, पत्रिकाओं, होर्डिंग्स, दीवारों, टेलीविज़न के परदे पर, सब जगह विज्ञापन छाए हुए हैं। लेकिन अगर हम इतिहास में पीछे मुड़कर देखें तो पता चलता है कि औद्योगीकरण की शुरुआत से ही विज्ञापनों ने विभिन्न उत्पादों के बाज़ार को फैलाने में और एक नयी उपभोक्ता संस्कृति रचने में अपनी भूमिका निभाई है।

जब मैनचेस्टर के उद्योगपतियों ने भारत में कपड़ा बेचना शुरू किया तो वे कपड़े के बंडलों पर लेबल लगाते थे। लेबल का फ़ायदा यह होता था कि खरीदारों को कंपनी का नाम व उत्पादन की जगह पता चल जाती थी। लेबल ही चीज़ों की गुणवत्ता का प्रतीक भी था। जब किसी लेबल पर मोटे अक्षरों में 'मेड इन मैनचेस्टर' लिखा दिखाई देता तो खरीदारों को कपड़ा खरीदने में किसी तरह का डर नहीं रहता था।



चित्र 25 - ग्राइपवॉटर का कैलेंडर, एम.वी. धुरंधर का चित्र, 1928

बच्चों की चीज़ों का प्रचार करने के लिए बाल कृष्ण की छवि का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल किया जाता था।



चित्र 26 (क)



चित्र 26 (ख)

चित्र 26 (क) - मैनचेस्टर के लेबल, बीसवीं सदी का प्रारंभ।

आयातित कपड़ों के लेबलों पर असंख्य भारतीय देवी-देवताओं - कार्तिक, लक्ष्मी, सरस्वती - को चित्रित किया जाता था जो संबंधित वस्तु की गुणवत्ता को दर्शाने का प्रयास था।

चित्र 26 (ख) - मैनचेस्टर के लेबल पर महाराजा रणजीत सिंह का चित्र।

उत्पाद के प्रति सम्मान पैदा करने हेतु ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का इस्तेमाल किया जा रहा था।

लेबलों पर सिर्फ शब्द और अक्षर ही नहीं होते थे। उन पर तस्वीरें भी बनी होती थीं जो अकसर बहुत सुंदर होती थीं। अगर हम पुराने लेबलों को देखें तो उनके निर्माताओं की सोच, उनके हिसाब-किताब और लोगों को आकर्षित करने के उनके तरीकों का अंदाज़ा लगा सकते हैं।

इन लेबलों पर भारतीय देवी-देवताओं की तस्वीरें प्रायः होती थीं। देवी-देवताओं की तस्वीर के बहाने निर्माता ये दिखाने की कोशिश करते थे कि ईश्वर भी चाहता है कि लोग उस चीज़ को खरीदें। कृष्ण या सरस्वती की तस्वीरों का फ़ायदा ये होता था कि विदेशों में बनी चीज़ भी भारतीयों को जानी-पहचानी सी लगती थी।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में निर्माता अपने उत्पादों को बेचने के लिए कैलेंडर छपवाने लगे थे। अखबारों और पत्रिकाओं को तो पढ़े-लिखे लोग ही समझ सकते थे लेकिन कैलेंडर उनको भी समझ में आ जाते थे जो पढ़ नहीं सकते थे। चाय की दुकानों, दफ़्तरों व मध्यवर्गीय घरों में ये कैलेंडर लटके रहते थे। जो इन कैलेंडरों को लगाते थे वे विज्ञापन को भी हर रोज, पूरे साल देखते थे। इन कैलेंडरों में भी नए उत्पादों को बेचने के लिए देवताओं की तस्वीर होती थी।

देवताओं की तस्वीरों की तरह महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, सम्राटों व नवाबों की तस्वीरें भी विज्ञापनों व कैलेंडरों में खूब इस्तेमाल होती थीं। इनका संदेश अकसर यह होता था : अगर आप इस शाही व्यक्ति का सम्मान करते हैं तो इस उत्पाद का भी सम्मान कीजिए; अगर इस उत्पाद को राजा इस्तेमाल करते हैं या उसे शाही निर्देश से बनाया गया है तो उसकी गुणवत्ता पर सवाल खड़ा नहीं किया जा सकता।

जब भारतीय निर्माताओं ने विज्ञापन बनाए तो उनमें राष्ट्रवादी संदेश साफ़ दिखाई देता था। इनका आशय यह था कि अगर आप राष्ट्र की परवाह करते हैं तो उन चीज़ों को खरीदिए जिन्हें भारतीयों ने बनाया है। ये विज्ञापन स्वदेशी के राष्ट्रवादी संदेश के वाहक बन गए थे।

निष्कर्ष

ज़ाहिर है कि उद्योगों के युग में बड़े-बड़े प्रौद्योगिकीय बदलाव आए हैं, फैक्ट्रियों का उदय हुआ है और नयी औद्योगिक श्रमशक्ति अस्तित्व में आई है। लेकिन जैसा कि आपने देखा है, इस युग में हाथ से बनने वाली चीज़ें और छोटे पैमाने का उत्पादन भी औद्योगिक भूदृश्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है।

चित्र 1 और 2 को दोबारा देखिए। अब बताइए कि ये छवियाँ क्या दर्शाती हैं।



चित्र 27 - सनलाइट साबुन का कैलेंडर, 1934
यहाँ भगवान विष्णु आसमान से रोशनी लाते दिखाए गए हैं।



चित्र 28 - एक भारतीय मिल में बने कपड़े का लेबल।
इसमें एक देवी अहमदाबाद के मिल में बना कपड़ा दान कर रही हैं और लोगों से भारत में बने कपड़े के इस्तेमाल का आह्वान कर रही हैं।

संक्षेप में लिखें

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें –

- (क) ब्रिटेन की महिला कामगारों ने स्पिनिंग जेनी मशीनों पर हमले किए।
- (ख) सत्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय शहरों के सौदागर गाँवों में किसानों और कारीगरों से काम करवाने लगे।
- (ग) सूरत बंदरगाह अठारहवीं सदी के अंत तक हाशिये पर पहुँच गया था।
- (घ) ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में बुनकरों पर निगरानी रखने के लिए गुमाशतों को नियुक्त किया था।

2. प्रत्येक वक्तव्य के आगे 'सही' या 'गलत' लिखें –

- (क) उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोप की कुल श्रम शक्ति का 80 प्रतिशत तकनीकी रूप से विकसित औद्योगिक क्षेत्र में काम कर रहा था।
- (ख) अठारहवीं सदी तक महीन कपड़े के अंतर्राष्ट्रीय बाजार पर भारत का दबदबा था।
- (ग) अमेरिकी गृहयुद्ध के फलस्वरूप भारत के कपास निर्यात में कमी आई।
- (घ) फ्लाई शटल के आने से हथकरघा कामगारों की उत्पादकता में सुधार हुआ।

3. पूर्व-औद्योगीकरण का मतलब बताएँ।

संक्षेप में लिखें

चर्चा करें

- 1. उन्नीसवीं सदी के यूरोप में कुछ उद्योगपति मशीनों की बजाय हाथ से काम करने वाले श्रमिकों को प्राथमिकता क्यों देते थे।
- 2. ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय बुनकरों से सूती और रेशमी कपड़े की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए क्या किया।
- 3. कल्पना कीजिए कि आपको ब्रिटेन तथा कपास के इतिहास के बारे में विश्वकोश (Encyclopaedia) के लिए लेख लिखने को कहा गया है। इस अध्याय में दी गई जानकारियों के आधार पर अपना लेख लिखिए।
- 4. पहले विश्व युद्ध के समय भारत का औद्योगिक उत्पादन क्यों बढ़ा?

चर्चा करें

परियोजना कार्य

अपने क्षेत्र में किसी एक उद्योग को चुनकर उसके इतिहास का पता लगाएँ। उसकी प्रौद्योगिकी किस तरह बदली? उसमें मजदूर कहाँ से आते हैं? उसके उत्पादों का विज्ञापन और मार्केटिंग किस तरह किया जाता है? उस उद्योग के इतिहास के बारे में उसके मालिकों और उसमें काम करने वाले कुछ मजदूरों से बात करके देखिए।

परियोजना कार्य